शिवपूजन सहाय

भारतीय साहित्य के निर्माता

शिवपूजन सहाय

लेखक
मंगलमूर्त्ति

साहित्य अकादेमी

Shivpujan Sahai : A monograph in Hindi by Mangal Murty on the modern Hindi author. Sahitya Akademi, New Delhi. (1999) Rs. 25.

प्रथम संस्करण : 1994
पुनर्मुद्रण : 1999

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली - 110 001
विक्रय विभाग : 'स्वाति' मंदिर मार्ग, नयी दिल्ली - 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंजिल, 23ए/44 एक्स. डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता - 700 053
304-305, अन्ना सालई, तेनामपेट, चेन्नई - 600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई - 400 014
ए.डी.ए. रंगमंदिर, 109, जे. सी. मार्ग, बंगलौर - 560 002

मूल्य : पच्चीस रुपये

ISBN : 81-7201-707-3

मुद्रक : पवन ऑफसेट प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

अनुक्रम

	अध्याय	पृष्ठ
1.	जीवन यात्रा	1
2.	साहित्य साधना	
	(क) कथा-साहित्य	42
	(ख) निबंध-साहित्य	66
	(ग) संस्मरण एवं डायरी-लेखन	77
	(घ) पत्रकारिता एवं संपादन	84
3.	चयन	106
	संदर्भ सूची	125

1
जीवन-यात्रा

शिवपूजन सहाय का जन्म बिहार के भोजपुर अंचल के एक गाँव उनवाँस में, एक मध्यवित्त कृषक कायस्थ परिवार में, वि. सं. 1950 की श्रावण कृष्ण त्रयोदशी, बुधवार (9 अगस्त, 1893) को हुआ था। पिता श्री वागीश्वरी दयाल आरा के एक ज़मींदार बक्शी हरिहर प्रसाद के पटवारी थे। माता श्रीमती राजकुमारी देवी बक्सर के पास धनहा गाँव की थीं। बालक शिवजी का घरेलू नाम भोलानाथ था। उनके पितामह थे देवीदयाल, जिनके प्रपितामह सुथरदास मूलतः उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर ज़िले के शेरपुर गाँव से अपनी माँ के साथ आकर अपने ननिहाल उनवाँस में बस गये थे। यह अनुमानतः अठारहवीं सदी के प्रारंभ की बात होगी।

उनीसवीं सदी के अंतिम दशक में जब शिवजी का जन्म हुआ, परिवार की माली हालत बहुत खराब थी। संत स्वभाव का होने के कारण और अपना अधिक समय पूजा-पाठ में ही बिताने के कारण पितामह देवीदयाल को उनके भाइयों ने कुछ ऊसर खेत और महुए के पेड़ देकर अलग कर दिया था। स्थिति धीरे-धीरे तब सुधरने लगी जब पिता वागीश्वरी दयाल पटवारीगिरी करने लगे।

उनवाँस गाँव उन दिनों भी भोजपुर अंचल का एक वैसा ही ठेठ देहात रहा होगा जैसे वह कमोबेश आज भी है। शिवपूजन सहाय ने अपनी अमर औपन्यासिक कृति 'देहाती दुनिया' में जिस रामसहर गाँव का चित्र उकेरा है वह मूलतः उनके अपने गाँव उनवाँस का ही कलाकृत चित्र है। गाँव की गंगा है गाँव के किनारे-किनारे बल खाती-बहती ठोरा नदी। वही अमराइयाँ, खेत-खलिहान, पोखरा, पंचमंदिर — सब वही, और आज भी वहीं है।

उनवाँस गाँव से अब एक पक्की सड़क निकटतम रेलवे स्टेशन बक्सर को जाती है, जो 15 कि. मी. उत्तर गंगा तट पर बसा ज़िला मुख्यालय बन गया है। पहले बक्सर एक सब-डिवीज़न था शाहाबाद ज़िला के अंतर्गत, जिसका मुख्यालय था आरा। बक्सर स्टेशन पूर्वी रेलवे की मुग़लसराय-पटना मेन लाइन पर लगभग बीचोबीच पड़ता है।

अपनी आत्मकथा 'मेरा जीवन' में शिवपूजन सहाय ने अपने जन्म और बचपन की कहानी लिखी है जो 'देहाती दुनिया' के भोलानाथ के बचपन की कहानी से बहुत

मिलती-जुलती है। शिवपूजन सहाय का जन्म और नामकरण एक महान संत पं. दुर्गादत्त परमहंस के आशीर्वाद से हुआ था, क्योंकि वागीश्वरी दयाल की कई संतानें इससे पूर्व शैशवावस्था में ही काल-कवलित हो चुकी थीं। परमहंसजी के आदेशानुसार परिवार के पुरोहित पं. रामयत्न पांडेय ने काशी और देवघर में कई महीने रहकर भगवान शिव की आराधना की और तब पूजा की पूर्णाहुति के बाद परमहंसजी ने अपने अग्निहोत्र-कुंड से वह दिव्य विभूति दी जिसके प्रभाव से कुछ ही महीने बाद माता पुत्रवती हुईं। शिवपूजन सहाय का नामकरण करने के तीन महीने बाद ही, 90 वर्ष की आयु में, संत-शिरोमणि पं. दुर्गादत्त परमहंसजी का परलोकगमन हुआ। शिवजी ने लिखा है .

"तपस्या का प्रभाव अमर होता है। परमहंसजी के अग्निहोत्र-कुंड के चुटकी-भर भस्म से एक मृतवत्सा की कोख फलवती हो गई। उस दिव्य विभूति के एक-एक कण में जो अद्‍भुत शक्ति थी वही मेरे जीवन-निर्माण में सहायक सिद्ध हुई। मेरे मन में ईश्वर-भक्ति का बीज उसी शक्ति ने बोया। उसी शक्ति ने मुझे सुखी-यशस्वी बनाया।"

'मेरा जीवन' में शिवपूजन सहाय ने अपने शैशव के कुछ अनुपम चित्र अंकित किये हैं :

"महाभारत की कथा में सुना जाता है कि द्रोणाचार्य का इकलौता बेटा अश्वत्थामा, गरीबी के कारण, दूध के अभाव में, भुने चावल के आटे का घोल पिया करता था। कहा जाता है कि मुझे भी बचपन में वैसा ही घोल पिलाया जाता था। . . . भुना हुआ चावल पीसकर गुड़ के साथ पानी में घोल दिया जाता, मैं दम साधकर बड़े चाव से एक ही साँस में सुड़क जाता। कभी-कभी वही घोल आग पर पकाकर हलवा बना दिया जाता। मेरी माता कहा करती थी कि मीठा घोल पीते समय मैं तबतक मुंह से कटोरा अलग नहीं करता था जबतक एक-एक बूंद चुक न जाये। और हलवा बनते समय मैं तुरत उसे खाने के लिए बैचेन हो जाता था। . . . मेरा जटाधारी भोलानाथ का रूप मेरी माता को बहुत प्रिय लगता था। मेरे त्रिपुंड-तिलक को वह मुझे गोद में लेकर आईने में दिखाती थी, तो मैं बहुत मुसकराता था और उसके हाथ से आईना छीनकर खुद अपना रूप निहारने लग जाता था। माँ कहती थी कि मैं कभी-कभी आईने को छाती पर रखे-ही-रखे सो जाता था। . . . मैं बचपन में बहुत कम बोलने के कारण, घर के लोगों में मौनी बाबा के नाम से भी पुकारा जाता था। मेरी तोतली बोली सुनने के लिए माता-पिता और परिवार के लोग नाना प्रकार के यत्न करते थे। अपनी भूख-प्यास मिटाने के लिए भी मैं केवल माँ के पास जाकर चुप खड़ा हो जाता था। उसके लाख पूछने पर भी मैं कुछ कहता न था। काम-धाम से मन हटाकर वह मुझे ही पुचकारने-बहलाने में लग जाती थी। आखिर

मेरी चुप्पी तोड़ने के लिए उसको बहुत दिनों का संचा हुआ मोतीचूर लड्डू निकालना पड़ता। . . . लड्डुओं को देखकर वह एक कड़ी छेड़ देती, मैं नाचने-गाने लग जाता—

मैया बिन आदर कौन करे, गैया बिन ओदर कौन भरे,
बरखा बिन सागर कौन भरे, श्रीराम बिना दुख कौन हरे।"

सात-आठ साल की उम्र में शिवजी को उनके पिता ने उनकी सबसे छोटी फूफी के यहाँ बगेन, आरा से पश्चिम, रघुनाथपुर रेलवे स्टेशन से दक्षिण, भेज दिया — अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए, क्योंकि फूफा अच्छे अंग्रेज़ी-दाँ थे। प्रारंभिक शिक्षा तो अपने गाँव उनवाँस में ही हुई थी, पर अंग्रेज़ी की पहली किताब 'फ़र्स्ट बुक' और उर्दू की पहली किताब, 'उर्दू आमोज़' की तालीम फूफा और उनके बूढ़े पिता से ही हासिल हुई। कुछ दिन बाद पिता वागीश्वरी दयाल ने बालक शिवजी को रामायण के माध्यम से हिन्दी पढ़ाने के लिए अपने बड़े जामाता मुंशी कालिका प्रसाद के पास आरा से दक्षिण पीरो के पास बम्हवार गाँव में भेज दिया। वहाँ भी बालक शिवजी अपने बहनोई की देखरेख में हिन्दी के साथ-साथ उर्दू और अंग्रेज़ी भी पढ़ते रहे। वहीं के मकतब में मौलवी साहब ने 'करीमा', 'ख़ालिकबारी', 'आमदनामा', और 'गुलिस्ताँ' शुरू कराया। उन्हीं की छड़ी ने बालक शिवजी की लिखावट में सुघराई पैदा की।

दस साल की उम्र में, 1903 की जनवरी में, शिवजी को उनके पिता अपने साथ आरा ले आये और वहाँ के एक हाई स्कूल, कायस्थ जुबिली एकेडमी में, पाँचवीं कक्षा में उनका नाम लिखवा दिया। पहले से थोड़ी-बहुत उर्दू-फ़ारसी की तालीम हासिल होने के कारण शुरू के दर्जों में शिवजी हिन्दी के बदले उर्दू-फ़ारसी ही पढ़ते रहे, लेकिन प्रारंभ से ही पिता की सलाह हिन्दी पढ़ने की ही रही थी, अतः इंट्रेंस (ग्यारहवीं कक्षा) में पहुँचकर शिवजी ने उर्दू-फ़ारसी की पढ़ाई छोड़कर एकाएक हिन्दी पढ़ना शुरू कर दिया। स्कूल में दाख़िले के समय उनकी उम्र शायद कुछ घटाकर लिखाई गई थी, इसलिए दर्ज उम्र सोलह साल पूरी करने पर ही 1913 में शिवजी ने द्वितीय श्रेणी में मैट्रिक परीक्षा पास की।

स्कूल की पढ़ाई के दौरान ही, 1906 में पिता का देहांत हुआ था। दो चाचा बक्शीजी के तहसीलदार थे, उन्हीं के अभिभावकत्व में पढ़ाई जारी रही। 1907 में पहला विवाह हुआ, पर गौने से पहले, दो महीने बाद ही, प्लेग से पत्नी की मृत्यु हो गई और 1908 में दूसरा विवाह हुआ।

शिवजी का हिन्दी-संस्कृत प्रेम बढ़ता गया और नगर की साहित्यिक संस्था आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा में वहाँ के वरिष्ठ साहित्यकारों से बराबर उनका संपर्क होने लगा। बाबू शिवनंदन सहाय, पं. सकलनारायण शर्मा, पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा, प्रोफ़ेसर अक्षयवट मिश्र 'विप्रचंद्र', पं. रामदहिन मिश्र, पं. पारसनाथ त्रिपाठी आदि से शिवजी का संपर्क इसी समय से सधने लगा था। पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा तो शिवजी के सखा,

अभिभावक, सह-शिक्षक एवं साहित्यिक गुरु — एक साथ सभी कुछ थे। दोनों बिलकुल समवयस्क भी थे — शर्माजी उम्र में केवल एक ही माह बड़े थे, यद्यपि प्रवेशिका-उत्तीर्ण वे पहले हो चुके थे, और साहित्य-क्षेत्र में भी उनका अनुभव और प्रभाव अधिक बन चुका था। शर्माजी ने 1912 में ही आरा से 'मनोरंजन' नामक मासिक साहित्यिक पत्रिका निकाली थी जिसके वे स्वयं संपादक थे और जिसके प्रथमांक (नवंबर, 1912) में ही शिवपूजन सहाय का 'परोपकार' शीर्षक लेख छपा था। दोनों ही नवयुवक साहित्यप्रेमी नागरी प्रचारिणी सभा के वाचनालय में नित्य जाते और हिन्दी की उपलब्ध पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन करते। निश्चय ही आरा की नागरी प्रचारिणी सभा उन दिनों हिन्दी के बहुश्रुत विद्वानों एवं समर्पित सेवकों का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी, और यह शिवजी का परम सौभाग्य था कि ठीक जब हिन्दी उन्हें अपनी ओर खींच रही थी और उनका सहित्यप्रेम अंकुरित हो रहा था, उसी समय उनकी पौध को पनपने के लिए ऐसी मिट्टी, खाद और सिंचाई सहज ही मिल गई।

मैट्रिक पास करने के बाद पारिवारिक परिस्थितियों एवं आर्थिक संकट के कारण शिवजी कॉलेज की पढ़ाई नहीं कर सके, और कुछ दिनों के लिए उन्हें बनारस की दीवानी अदालत में हिन्दी नकलनवीस की नौकरी करनी पड़ी। साहित्य से लगन ऐसी लग चुकी थी कि वहाँ भी काशी नागरी प्रचारिणी सभा में नित्य आना-जाना होने लगा था। वहीं पहले-पहल बाबू श्यामसुंदर दास के दर्शन हुए थे, और प्रसादजी से उनके घर पर भेंट हुई थी। पर यह प्रथम काशी-प्रवास कुछ ही महीनों का रहा और 1914 में, जिस स्कूल से शिवजी ने मैट्रिक पास किया था, उसी स्कूल (के.जे. एकेडमी) में उन्हें हिन्दी अध्यापक की नौकरी मिल गई। तब शिवजी अपनी माता और पत्नी को भी आरा में साथ रखने लगे। माता को अतिसार रोग हो गया था जिससे 1916 में उनका देहांत हुआ। अगले वर्ष, 1917 में, शिवजी आरा टाउन स्कूल में हिन्दी-शिक्षक नियुक्त हुए। इन्हीं दिनों अपने साहित्यिक अभिभावक पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा तथा अन्य साहित्यिक मित्रों के साथ शिवजी अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पंचम (लखनऊ, 1914) तथा छठे (प्रयाग, 1915) अधिवेशनों में सम्मिलित हुए। इन दोनों साहित्यिक यात्राओं में उनका संपर्क हिन्दी के कई गण्यमान्य साहित्यकारों से हुआ जिनकी चर्चा उन्होंने पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पं. बदरीनाथ भट्ट, पं. माधव शुक्ल, पं. अमृतलाल चक्रवर्ती, पं. जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, बाबू श्यामसुंदर दास आदि के संस्मरणों में की है।

जब ईश्वरीजी 'मनोरंजन' के बंद होने के बाद कुछ दिनों तक 'लक्ष्मी' के संपादक के रूप में गया में रहे, और फिर लगभग 1917 में आगरा में 'धर्माभ्युदय' के संपादक रहे, तब भी शिवजी दोनों जगह कुछ-कुछ दिन उनके साथ रहे थे। आगरा-प्रवास की चर्चा भी ईश्वरीजी वाले संस्मरण में है, "पंडितजी आगरा में

'धर्माभ्युदय' के संपादक थे और मैं आरा के एक स्कूल में हिन्दी शिक्षक था। . . . 'धर्माभ्युदय' के अध्यक्ष सेठ लक्ष्मीचंदजी की जैन लाइब्रेरी सुधारने के लिए उन्होंने राह-खर्च भेजकर मुझे साग्रह बुलाया। मैंने वहाँ जाकर लगभग एक महीने में उस अस्त-व्यस्त दशा में पड़ी हुई सर्वांगसुंदर लाइब्रेरी को भली-भाँति सुधार दिया– अक्षरानुक्रम और विषयानुक्रम से खूब बढ़िया संख्याबद्ध ग्रंथ-सूची तैयार करके पुस्तकें सजा दीं।"

वहाँ से ईश्वरीजी के ही साथ शिवजी कांग्रेस के तैंतीसवें दिल्ली अधिवेशन में गये जहाँ उनको श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के प्रथम दर्शन हुए। वापसी में शिवजी मथुरा और वृंदावन होते हुए लौटे थे। आरा में शिक्षण-कार्य के इन्हीं वर्षों में शिवजी 'आरा-सेवा-समिति' के संयुक्त मंत्री तथा आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के सहकारी मंत्री भी रहे। इन्हीं दिनों शिवजी ने आरा के रईस देवेन्द्रकुमार जैन द्वारा प्रकाशित 'त्रिवेणी', 'प्रेमकली', 'प्रेम-पुष्पांजलि' (तीनों पद्य-संकलन) तथा 'सेवाधर्म' (अनुवाद) का संपादन किया था। साथ ही पं. रामदहिन मिश्र के ग्रंथमाला कार्यालय (पटना) से शिवजी की दो पुस्तकें 'बिहार का विहार' तथा 'हिन्दी ट्रांसलेशन' भी इन्हीं दिनों प्रकाशित हुई थीं। गाँधीजी के असहयोग आंदोलन के सिलसिले में सरकारी स्कूल से इस्तीफा देकर शिवजी वहाँ के नव-स्थापित राष्ट्रीय विद्यालय में हिन्दी-शिक्षक हो गये। इन दिनों गाँव-गाँव जाकर उन्होंने कांग्रेस का प्रचार कार्य भी किया था। अपने साहित्यप्रेमी छात्र हरद्वार प्रसाद जालान एवं उनके कुछ स्वजातीय मित्रों द्वारा स्थापित 'मारवाड़ी-सुधार-समिति' के मुखपत्र 'मारवाड़ी सुधार' के प्रकाशन-संपादन के लिए मार्च 1921 में शिवजी अध्यापन-कार्य छोड़कर कलकत्ता चले गये और पं. ईश्वरीजी के परामर्श से 'मारवाड़ी सुधार' का मुद्रण महादेव प्रसाद सेठ के बालकृष्ण प्रेस में कराने लगे, जो उन दिनों 23 शंकर घोष लेन में स्थित था। "प्रथमांक छपवाने के लिए मैं पहले-पहल कलकत्ता गया। इसके बाद धनी मारवाड़ियों से सहायता लेने के लिए हाथरस, दिल्ली, इंदौर, जयपुर, बंबई आदि अनेक बड़े नगरों में महीनों घूमता फिरा। किसी तरह दो साल 'मारवाड़ी सुधार' निकला।"

बालकृष्ण प्रेस वाले उस मकान में, जो तब विद्यासागर कॉलेज के पिछवाड़े खुली जगह में था, ऊपरी तल्ले पर रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों के साथ निरालाजी निवास करते थे और वहीं रहकर वे विवेकानंद सोसाइटी के मुखपत्र 'समन्वय' का संपादन करते थे। 'समन्वय' का मुद्रण भी बालकृष्ण प्रेस में ही होता था। कुछ महीनों बाद सेठजी के बार-बार आग्रह पर शिवजी भी सेठजी के साथ प्रेस में ही आकर रहने लगे। सेठजी के अभिन्न मित्र मुंशी नवजादिक लाल भी वहीं रहते थे और प्रेस की व्यवस्था में सहयोग करते थे। मुंशीजी पटना सिटी के व्यापारी किशोरीलाल चौधरी के भूतनाथ कार्यालय में मैनेजर का काम करते थे, जो उस जमाने में कलकत्ते का

इत्र-तेल-साबुन का एक बहुत मशहूर कारखाना था। वास्तव में सेठजी ने बहुत कुछ मुंशीजी के भरोसे पर ही अपना प्रेस खोला था जिसमें ज्यादातर काम भूतनाथ कार्यालय का ही होता था, और मुंशीजी के प्रभाव से बहुत सारा और काम भी प्रेस को मिलता रहता था। निरालाजी तो रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों के साथ ही रहते थे, पर शिवजी अब सेठजी और मुंशीजी के साथ प्रेस वाले मकान में ही रहने लगे थे। शिवजी ने अपनी आत्मकथा 'मेरा जीवन' में अपने कलकत्ता-प्रवास के संस्मरणों में विस्तार से उन दिनों की चर्चा की है — विशेषतः निरालाजी, सेठजी और मुंशीजी वाले संस्मरणों में।

निचले तल्ले में प्रेस था। दूसरी मंज़िल पर संन्यासियों के साथ निरालाजी का निवास था। और तीसरी मंज़िल पर एक एकांत कमरा था जो सेठजी का खास कमरा था। चौका केदार महाराज रसोइया चेतते थे, और बाकी प्रेस से लेकर खाने-पीने, साग-सब्जी, भंग-रंग का पूरा जिम्मा मुंशीजी का था। "यह कुल काम मुंशीजी चुटकियों में उड़ा देते . . . तरकारियां रोज मुंशीजी की पसंद से ही बनती थीं। साग-भाजी के लिए दोनों जून पुर्जा लिख देना भी उन्हीं का काम था। प्रतिदिन भंग-बूटी के मसाले में परिवर्तन करना उन्हीं की सुरुचि पर निर्भर था – आज कसेरू की भंग छने, कभी बेल, कभी फालसा, कभी संतरा, कभी अंगूर, कभी केसरिया रंग गाढ़ा, कभी आम का पन्ना।"

जून-जुलाई 1923 में 'मारवाड़ी सुधार' का अंतिम अंक निकला, और अ. भा. मारवाड़ी अग्रवाल महासभा के मुखपत्र 'मारवाड़ी अग्रवाल' का प्रकाशन शुरू हुआ। इन्हीं दिनों अक्तूबर 1922 से मई 1923 के बीच शिवजी ने पटना सिटी के ही मारवाड़ी दीनानाथ सिगतिया द्वारा प्रकाशित 'आदर्श' का भी संपादन किया था। दोनों ही पत्रों के लगभग एक ही समय बंद हो जाने से शिवजी अत्यंत खिन्न थे। मई 1923 के 'मारवाड़ी सुधार' की अपनी संपादकीय टिप्पणी "आदर्श की भ्रूण-हत्या" में शिवजी ने अपने मन का गहरा क्षोभ व्यक्त किया। "निःसंतान होकर रहना अच्छा, पर पुत्र-शोक अच्छा नहीं। किसी लेखक को किसी ऐसे पत्र का संपादन अपने हाथ में न लेना चाहिए जिसका भविष्य उज्ज्वल न हो। भविष्य उज्ज्वल उसी पत्र का हो सकता है जिसके प्रकाशक के पास पूँजी हो, साथ ही साहित्य के प्रति अटल अनुराग भी। . . . सुसंपादित और सुसंचालित दस ही पत्र रहें तो हिन्दी के गौरव की वृद्धि हो सकती है। केवल गिनती के सैकड़ों पत्र हिन्दी का अपकार के सिवा उपकार नहीं कर सकते। 'आदर्श' के निकलने से हिन्दी को कुछ लाभ नहीं हुआ, मैं जरूर लाभान्वित हुआ। किन्तु उसके बंद हो जाने से हिन्दी की कुछ तो हानि अवश्य हुई, मेरी चाहे भले ही न हुई हो — क्योंकि कलम और पेट का निंद्य नाता इस जीवन में छूटता नहीं नजर आता।"

साथ रहते हुए सेठजी और मुंशीजी ने शिवजी के असाधारण संपादन-कौशल एवं लेखकीय प्रतिभा को अच्छी तरह तौल-परख लिया था। निरालाजी भी वहीं रहते हुए शिवजी की लाल-काली लेखनी की शक्ति से परिचित हो चुके थे। शिवजी के कई लेख तब तक 'समन्वय' में छप चुके थे, और 'आदर्श' की दूसरी ही संख्या में निरालाजी की कविता 'जुही की कली' प्रकाशित हुई थी। अपने एक पत्र (13.3.23) में निराला ने शिवजी की सद्यःप्रकाशित पुस्तक 'महिला महत्व' के विषय में लिखा था, "पुस्तक पढ़कर जो आनंद हुआ, वह कहीं आपके दर्शनों से भी अधिक सुखकर है", और 'समन्वय' के जून 1923 अंक में 'पुस्तक परिचय' स्तंभ में उस पर सटीक पंक्तियाँ लिखी थीं : "सभी कहानियाँ चिन्ताकर्षक हैं और ललित। भाषा बड़ी ही मधुर है। घटनाक्रम की अपेक्षा भाषालंकार में ज्यादा आनंद मिलता है।"

निरालाजी, शिवजी, सेठजी और मुंशीजी के इस व्याज से एक जगह जुट जाने से ही वह विलक्षण साहित्यिक संयोग घटित हुआ, जिससे 'मतवाला' मंडल का सूत्रपात हुआ। 'मतवाला' का आविर्भाव हिन्दी पत्रकारिता के विकास में एक अभिनव घटना थी। सेठजी के मन में एक साहित्यिक पत्र निकालने की उमंग उठ ही रही थी कि मुंशीजी बाङ्ला का एक सद्यःप्रकाशित हास्य-साप्ताहिक खरीद लाये, और चारों युवा साहित्य-प्रेमियों ने अपने दैनंदिन जीवन के व्यंग्य-तरंग को साहित्यिक पत्रकारिता के प्याले में ढालकर हिन्दी जगत की सेवा में प्रस्तुत किया। नामकरण किया मुंशीजी ने—'मतवाला'।

'मतवाला' का प्रथम अंक 26 अगस्त, 1923 को निकला और "बाजार में जाते ही, पहले ही दिन धूम मच गई"। शुद्ध साहित्यिकता से सिंचित और हास्य-व्यंग्य का एक बाँका-अनूठा तेवर लिए हुए 'मतवाला' ने हिन्दी पत्रकारिता को एक नई दिशा, नई पहचान दी। चुभती-गुदगुदाती राजनीतिक-साहित्यिक व्यंग्य-टिप्पणियाँ, समकालीन साहित्यिक-प्रकाशकीय गतिविधियों पर नश्तरी नज़रिया, निराला की अप्रतिम कविताएँ, शिवजी के सम्मोहक गद्य का चमत्कार एवं उनका मानक संपादन, मुंशीजी और सेठजी का साहित्यिक-व्यवस्थापकीय सहयोग—सोने में सुहागा—सबने मिलजुल कर साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में एक नया कीर्तिमान स्थापित कर दिया। सेठजी का 23, शंकर घोष लेन में स्थित बालकृष्ण प्रेस 'मतवाला' मंडल का मुख्यालय एवं कलकत्ता का साहित्यिक केन्द्र बन गया। 'मतवाला' मंडल की जमघट में जुटनेवाले अन्य साहित्यकारों में पं. सकलनारायण शर्मा, पं. जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पं. रामगोविंद त्रिवेदी, पं. कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय, पं. चंद्रशेखर पाठक, पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पं. चंद्रशेखर शास्त्री, बाबू बलदेवप्रसाद खरे, श्री राधामोहन गोकुलजी, पं. माधव शुक्ल, पं. अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, पं. लक्ष्मण नारायण गर्दे, पं. रुद्रदत्त शर्मा, पं. नरोत्तम व्यास तथा पारसी थिएट्रिकल कंपनी के कुछ नाटक-लेखक, जैसे पं. नारायण प्रसाद

'बेताब', बाबू हरिकृष्ण 'जौहर', पं. तुलसीदत्त 'शैदा', आगा हश्र कश्मीरी इत्यादि प्रमुख थे।

'मतवाला' में राजनीति, समाज-व्यवस्था, साहित्य – सभी पर ज़ोरदार टिप्पणियाँ होती थीं। 'मतवाला' अंग्रेज़ी राज का विरोधी और सामाजिक रूढ़िवाद का कट्टर शत्रु था। सन् '20 के स्वाधीनता-आंदोलन के साथ देश में जो जागृति फैली, 'मतवाला' उसका प्रतिनिधि था। उसकी राजनीतिक चेतना गाँधीवाद की सीमाएँ लाँघकर देश और समाज की परिस्थितियों में और गहरे पैठती थीं। वह बालकृष्ण भट्ट के हिन्दी 'प्रदीप' का सही उत्तराधिकारी और गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' का योग्य जोड़ीदार था" (डॉ. रामविलास शर्मा : **'निराला की साहित्य साधना'**, 1:81)।

शिवजी 'मतवाला' के पहले अंक से तीसवें अंक (15 मार्च, '24) तक लगातार उसमें अग्रलेख लिखते रहे। शिवजी द्वारा संपादित अंतिम अंक होली-अंक था। अग्रलेख के अलावा शिवजी "चलती चक्की" और "मतवाले की बहक" की व्यंग्य-टिप्पणियाँ भी लिखते थे। "मुंशीजी और सेठजी जब अखबार पढ़ने का अवसर पाते तब उसमें निशान लगाकर मेरे पास उस पर टिप्पणी जड़ने के लिए भेज देते। तीसरी मंज़िल पर एक छोटा-सा एकांत कमरा था। रात में सेठजी उसमें सोया करते थे और दिन-भर मैं उसमें 'मतवाला' का मैटर तैयार किया करता था। भंग छानने के बाद कुछ घंटे हम लोगों की सम्मिलित बैठक होती थी। उसमें अखबार की खबरों पर विचार-विनिमय होता था। देश, समाज, धर्म और साहित्य से संबंध रखने वाले महत्त्वपूर्ण समाचारों और ज्वलंत राजनीतिक समस्याओं पर सूझ-बूझ भरी टिप्पणियाँ लिखने के लिए निश्चय किया जाता था।"

लेकिन इस बार जब होली में शिवजी अपने गाँव गये तो वे सेठजी और किसी हद तक मुंशीजी के व्यवहार से भी क्षुब्ध थे। निरालाजी से सेठजी को पता चला कि वे दोनों मित्रों के निष्ठुर व्यवहार से दुखी और असंतुष्ट होकर गये थे। निश्चय ही यह सौ-दो सौ रुपयों की बात नहीं थी। शिवजी के कोमल मन को कहीं गहरी ठेस लगी थी। सेठजी ने अपनी ओर से सफ़ाई का लंबा पत्र भी भेजा, पर पत्र के अंत में अपना हस्ताक्षर नहीं किया। 'मतवाला' जितनी तेज़ी से लोकप्रियता के शिखर पर चढ़ा था—पहले साल के अंदर ही वह दस हज़ार की संख्या में छपने लगा था – शिवजी के अलग होते ही वह ढलान पर उतरने लगा। मुंशीजी ने करुण पत्र लिखा (28-6-24) : " 'मतवाला' की अवस्था उत्तरोत्तर ख़राब हो रही है। जब से मई, '24 से चार पैसे किये गये तब से बराबर गिर रहा है। शायद बंद कर देना पड़े! मेरी धारणा है कि आपकी अनुपस्थिति और एकाएक दाम बढ़ाने से पत्र की अवस्था बिगड़ गई है। अब सुधार की आशा बहुत कम है।"

इस बीच शिवजी को 'माधुरी'-संपादक दुलारेलाल भार्गव अपने संपादकीय विभाग में बुलाने की कोशिश करते रहे थे। 'मतवाला' में मनमुटाव की गंध दुलारेलाल को पहले ही मिल चुकी थी। शिवजी के संपादन-कौशल एवं सम्मोहक गद्य-लेखन की ख्याति से भी वे परिचित-प्रभावित थे। उनको जब पता चला कि शिवजी 'मतवाला' से टूटकर चले आये हैं और अपने गाँव पर रह रहे हैं, तो उन्होंने अपने मैनेजर को शिवजी के गाँव भेजा। उग्र को लिखे एक तिथिहीन पत्र में (जो अनुमानतः 1-2 मई, 1924 का होगा), शिवजी ने लिखा : "मैनेजर साहब तार देने के चौथे ही रोज मेरे घर पहुँच गये। और मेरे घर वालों को बहुत लोभ दिखलाया और दो सौ रुपये भी दिये। मैं बड़े असमंजस में पड़ गया। मेरे घर वालों की हालत आपको अच्छी तरह नहीं मालूम। मेरा पारिवारिक जीवन जैसा गया-बीता है, वैसा शायद ही किसी साहित्यिक का हो। . . . सबने आग्रह और अनुरोध द्वारा विवश किया और मुझे आना पड़ा।"

लखनऊ पहुँचकर शिवजी अमीनाबाद के रॉयल हिन्दू होटल में रहने लगे। वहीं उनके साथ पं. शांतिप्रिय द्विवेदी, पं. भगवती प्रसाद त्रिपाठी और श्रीमद्‌भागवत प्रसाद भी रहते थे। ये लोग भी शिवजी के साथ ही गंगा-पुस्तक-माला कार्यालय में काम करते थे। कुछ दिन बाद प्रेमचंदजी भी सपरिवार गंगा-पुस्तक-माला कार्यालय में साहित्यिक सलाहकार की नौकरी पर लखनऊ चले आये। काशी में जो प्रेस उन्होंने शुरू किया था उसकी हालत बहुत ख़स्ता थी। कर्ज़ के बोझ को कुछ हल्का करने के ख़याल से ही उन्हें दुलारेलाल की नौकरी कबूल करनी पड़ी थी। लखनऊ आने से कुछ पहले ही उन्होंने अपना नया उपन्यास 'रंगभूमि' दुलारेलाल को छापने के लिए भेज दिया था, जिसकी अग्रिम रायल्टी उन्हें 1800 रुपये मिली थी और जिससे प्रेस का कर्ज़ कुछ उतरा था। दुलारेलाल ने 'रंगभूमि' की पांडुलिपि शिवजी को संपादित करने के लिए दे दी थी और शिवजी ने उसे संपादित करना प्रारंभ कर दिया था। इस प्रसंग की चर्चा शिवजी ने अपने प्रेमचंद-संबंधी संस्मरण में की है : "मैं 'माधुरी' के संपादन विभाग में काम करता था। उसी समय उनका 'रंगभूमि' नामक बड़ा उपन्यास वहाँ छपने के लिए आया था। प्रेमचंदजी ने उतना बड़ा पोथा पहले-पहल नागराक्षर में लिखा था। . . . दो मोटी जिल्दों में खासा एक बड़ा पोथा, छोटे-छोटे अक्षर, घनी लिखावट; कहीं काट-छांट नहीं; मानों पूरी पुस्तक एक साँस में लिखी गई हो। भार्गवजी की गंगा-पुस्तक-माला की पुस्तकों का संपादन जिन नियमों के अनुसार होता था, उन नियमों को मैं जान चुका था। . . . 'माधुरी' में भी उन्हीं नियमों का पालन करना पड़ता था। जब मैं 'रंगभूमि' की कॉपी पढ़ने लगा, नियमों का ध्यान छूट गया, मन रीझ कर भाषा की बहार लूटने लगा। . . . कुछ हिन्दी शब्दों की लिखावट में भूल मिलती थी और कुछ के उपयुक्त प्रयोग में भी। वाक्यावली और वर्णन-शैली

तो गंगा की धारा की तरह स्वच्छ और संवेग थी। बंधे नियमों के अनुसार कुछ अक्षर बदलने पड़े। कुछ मात्राएं इधर-उधर हुईं, कुछ प्रसंगानुकूल यथोचित शब्द चस्पां किये गये। प्रेस कापी तैयार हो गई।"

इसी बीच लखनऊ में दंगा फैल गया और शिवजी को अपना सारा सामान, जिसमें 'रंगभूमि' की उस पांडुलिपि के साथ-साथ डायरी, पत्र, अन्य अपनी अप्रकाशित पांडुलिपियाँ आदि बहुत सारी बहुमूल्य साहित्यिक सामग्री थी, सब कुछ उसी रॉयल हिन्दू होटल में छोड़कर भागना पड़ा। शिवजी के पत्र-संग्रह से चुनकर छापे गये संकलन 'प्रेमचंद : पत्र-संग्रह' में इस पूरे प्रकरण पर प्रकाश पड़ता है। लखनऊ से काशी होते हुए शिवजी अपने गाँव चले आये। दुलारेलाल की नौकरी उन्हें रास नहीं आई थी। 'मतवाला' का मोह मन से गया नहीं था। उग्र के पत्रों में उन्होंने अपने मन की दुविधा व्यक्त की थी : 'माधुरी' कार्यालय यमालय से कम नहीं है। दूर के ढोल सुहावने होते हैं। अभी तक तो मेरे साथ अच्छा व्यवहार किया गया, पर अब सीधा-सपाटा जानकर अधिकार का अंकुश दबाया जाने लगा। . . . कोई स्थान ठीक करके मैं शीघ्र ही हटनेवाला हूँ (20.5.24)। . . . मतवाला-मंडल में जैसा व्यवहार-बर्ताव था वैसा इस जीवन में, इस संसार में, मुझे कहीं कभी मिल नहीं सकता। . . . मैं यहाँ अधिक दिनों तक न रहूँगा और अब मतवाला की शरण में भी न जाऊँगा। अगर ये दोनों कर सका तो बेहतर, और न कर सका तो भी कोई हर्ज नहीं, क्योंकि बिना पेंदी का लोटा, कभी इधर कभी उधर लुढ़क जाय तो क्या आश्चर्य।" (13.5.24)

दुलारेलाल के बार-बार बुलावे पर 'रंगभूमि' की पांडुलिपि का, जो दुलारेलाल ने होटल से मंगवा ली थी, संपादन-कार्य पूरा करने के लिए शिवजी एक बार फिर अक्तूबर के अंतिम सप्ताह में लखनऊ आये और लगभग एक महीने वहाँ रहकर नवंबर के अंत तक फिर अपने गाँव लौट गये। पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा उन्हें बराबर कलकत्ता लौट आने की सलाह देते रहे थे, और अंततः जनवरी (1925) में शिवजी कलकत्ता वापस चले गये। नवंबर में ही उग्र 'मतवाला' में आ गये थे। अन्यमनस्क होकर ही सही, लेकिन एक बार फिर शिवजी 'मतवाला' में लौट आये। 'मतवाला' के 29 जनवरी, 1925 के अंक में बड़े टाइप में सूचना छपी "आ गये! हिन्दी-भूषण बाबू शिवपूजन सहाय 'मतवाला'-मंडल में आ गये !"

दूसरी बार के कलकत्ता-प्रवास में शिवजी 'मतवाला' से जुड़े तो रहे पर अन्यमनस्क भाव से ही। अक्सर अग्रलेख और व्यंग्य-टिप्पणियाँ भी लिखते पर इस बार उनका समय ज्यादातर 'मौजी', 'गोलमाल', 'उपन्यास तरंग', 'समन्वय' आदि पत्रों के संपादन में लग रहा था। उनकी दूसरी पत्नी बीमार रहने लगी थीं। इस बार कलकत्ता आना उनके लिए अशुभ सिद्ध हुआ, क्योंकि आने के दो महीने के

अंदर ही पत्नी और फिर उस पत्नी से हुई एकमात्र पुत्री वासंती, दोनों शीतलाग्रस्त हुईं, और पुत्री की मृत्यु हो गई। पुत्री के शोक में पत्नी जो बीमार हुईं तो — शायद क्षयग्रस्त होकर — नवंबर 1926 में बक्सर में वह भी चल बसीं, जब शिवजी उस समय काशी में ही थे।

पुत्री-शोक, पत्नी की गंभीर रुग्णता, 'मतवाला' से खिंचाव – इन कारणों से शिवजी का मन कलकत्ते से बिलकुल उचट चुका था! वे घर की ओर लौटना चाहते थे। अपना अधूरा उपन्यास 'देहाती दुनिया' जिसके कुछ प्रारंभिक फर्मे उनके पिछले प्रवास में ही उनके मित्र पं. रामगोविंद त्रिवेदी ने अपने भारती प्रेस में छापे थे, और जिसकी आगे की पांडुलिपि लखनऊ के होटल में ही छूट गई थी जो फिर मिली नहीं – शिवजी ने बाद में काशी में पूरा किया था। उनका यह उपन्यास लहेरियासराय के पुस्तक भंडार से 1926 में प्रकाशित हुआ।

पुस्तक भंडार के अधिष्ठाता रामलोचन शरण मूलतः स्कूली पुस्तकों के प्रकाशक थे जो इस समय बिहार के सबसे बड़े प्रकाशक के रूप में उभर रहे थे। रामवृक्ष बेनीपुरी के संपादन में वे 'बालक' नामक एक बालोपयोगी मासिक प्रकाशित करना चाहते थे। बेनीपुरी पहले पटना सिटी के सिगतिया के 'गोलमाल' के कुछ अंकों का संपादन कर चुके थे। वे शिवजी से पूर्व-परिचित थे। 'बालक' के प्रारंभिक 2-3 अंक बेनीपुरी ने शिवजी की ही देखरेख में कलकत्ते के वणिक प्रेस में छपवाये थे, जहाँ से शिवजी 'उपन्यास तरंग' का संपादन करते थे। बेनीपुरी की मार्फत ही रामलोचन शरण ने शिवजी के सामने यह प्रस्ताव रखा कि वे पुस्तक भंडार की पुस्तकों एवं 'बालक' के संपादन तथा उनके मुद्रण के सिलसिले में काशी में रहें। शिवजी का मन कलकत्ता से ऊब चुका था। काशी के लिए उनके मन में यों भी गहरा आकर्षण था। मई 1926 में शिवजी अपनी रुग्णा पत्नी को लेकर काशी चले आये।

प्रेमचंद भी इस बीच दुलारेलाल के व्यवहार से असंतुष्ट होकर काशी वापस आ गये थे। शिवजी पुस्तक भंडार का बहुत सारा काम प्रेमचंद के सरस्वती प्रेस में कराते थे। सरस्वती प्रेस तब नागरी प्रचारिणी सभा के पास ही था, और शिवजी भी वहीं पास में दंडपाणि भैरव मंदिर के ऊपरी मंज़िल वाले मकान में रहते थे। पत्नी के देहांत के बाद शिवजी कालभैरव चौमुहानी के पास एक मकान में चले गये। 'बालक' ज्ञानमंडल प्रेस में छपता था जो वहाँ से दूर नहीं था। यद्यपि 'बालक' पर बेनीपुरी का ही नाम संपादक के रूप में छपता था, पर वस्तुतः उसका सारा संपादन-भार शिवजी पर ही था। साहित्य-जगत में शिवजी का जो प्रभाव बन चुका था, पुस्तक भंडार को अब उसका पूरा लाभ मिलने लगा था। यही वह समय था जब बनारस कोतवाली के पिछवाड़े गली के मुहाने पर जयशंकर प्रसाद की सुरती-ज़र्दे की दुकान के सामने दीवार में जड़े पत्थर के तख़्त पर प्रसादजी की साहित्य-गोष्ठी

जमती थी, जिस पर नित्यप्रति बैठनेवालों में प्रेमचंदजी के साथ शिवजी और विनोदशंकर व्यास भी होते थे। प्रेमचंद वाले संस्मरण में शिवजी ने ही लिखा है, "उस समय हिन्दी संसार का कौन ऐसा साहित्य-महारथी था, जो उस तख्तपोश पर कुछ देर न बैठा हो।"

काशी के उस साहित्यिक परिवेश की चर्चा करते हुए पं. विनोदशंकर व्यास ने अपनी पुस्तक 'प्रसाद और उनके समकालीन' में लिखा है : "हम दोनों प्रसादजी के यहाँ पहुँच जाते थे। वहाँ घंटों मंडली जमी रहती थी। प्रसादजी का बहुत निकट स्नेह उन्हें प्राप्त था। काशी में रहने पर हम लोगों के किसी भी जमघट में शिवपूजन न हों, ऐसा कभी नहीं होता था। . . . हमलोगों की मंडली में शिवजी का सम्मान विशेष रूप से था। पुस्तकों के प्रकाशन और संपादन का कार्य वे ही करते थे। इसलिए मेरी और प्रसाद की लिखी अधिकांश रचनाओं से वे परिचित थे। उनका निर्णय ही अंतिम समझा जाता था। प्रसादजी जब कुछ नई रचना प्रस्तुत करते तो शिवपूजन को सुनाये बिना उन्हें संतोष नहीं होता था।"

पत्नी-वियोग के बाद अब शिवजी बिलकुल एकाकी थे। उनका सारा समय पुस्तकों के संशोधन-संपादन में ही लग जाता था। गाँव के घर-परिवार से भी वे संतुष्ट नहीं रहते थे। परिवार के लोग और काशी के मित्रगण भी काफी दबाव डाल रहे थे कि शिवजी फिर विवाह कर लें। जब यह दबाव बहुत बढ़ गया तब शिवजी इस शर्त पर राजी हुए कि लड़की से वे स्वयं मिलकर पूछेंगे, क्या वह उनके जैसे अव्यवस्थित जीवन वाले एक मसिजीवी से विवाह करना चाहेगी? उनके एक मित्र पं. विध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री ने उन्हें एक ऐसी लड़की और परिवार के विषय में बताया और वहाँ बात चलाई। शिवजी ने छपरा के पास मशरख स्टेशन की धर्मशाला में जाकर लड़की देखी और उससे बड़ी स्पष्टता से सारी बातें पूछीं। उन्होंने लड़की के अभिभावक बड़े भाई से यह भी वादा ले लिया कि वे विवाह के पूर्व पत्राचार द्वारा लड़की के स्वभाव और उसकी अभिरुचियों के विषय में भी जानकारी लेकर आश्वस्त होना चाहेंगे। उस जमाने के लिए ऐसी बातें अनसुनी-अनहोनी थीं, पर आज वह परस्पर पत्राचार एक अमूल्य साहित्यिक निधि जैसा प्रतीत होता है।

शिवजी का यह तीसरा विवाह उक्त मशरख स्टेशन से 8 कि. मी. दूर विलासपुर गाँव के श्री रामावतार प्रसाद की पाँचवीं पुत्री, श्रीमती बच्चनकुमारी के साथ 1928 की 21 मई को हुआ। इस बारात में काशी की पूरी साहित्यिक मंडली गई थी। मुंशी नवजादिक लाल ने समधी की भूमिका निभाई थी। व्यासजी, बेनीपुरीजी, नटवरजी आदि कई साहित्यकारों ने अपने संस्मरणों में इस साहित्यिक विवाह की चर्चा की है। तीसरी पत्नी शिवजी के लिए एक आदर्श जीवनसंगिनी सिद्ध हुई। व्यासजी, उग्रजी, निरालाजी, बेनीपुरीजी – सबने अपने संस्मरणों और पत्रों में शिवजी के सुखी

दांपत्य-जीवन को रेखांकित किया है। एक साल के भीतर ही पत्नी ने प्रथम पुत्र का उपहार दिया।

शिवजी मकान बदलकर बुलानाला मुहल्ले में आ गये थे। पुस्तक भंडार की किताबें और 'बालक' ज्ञानमंडल प्रेस में ही छप रहे थे। अब संपादक के रूप में बेनीपुरी की जगह रामलोचन शरण का नाम जाता था, यद्यपि सारा संपादन अब भी शिवजी ही करते थे। भंडार से जो भी साहित्यिक पुस्तकें प्रकाशित हो रही थीं – जिनमें हिन्दी के सभी प्रसिद्ध लेखकों की पुस्तकें शामिल थीं — प्रसादजी, व्यासजी, हरिऔध, लाला भगवान दीन, बाबू गुलाब राय, लक्ष्मीनारायण मिश्र, रामनाथ सुमन, शांतिप्रिय द्विवेदी जैसे लेखकों की पुस्तकें केवल शिवजी के प्रभाव से भंडार को प्रकाशनार्थ मिली थीं और इन सभी का संपादन शिवजी ने ही किया था।

जनवरी 1930 से 'बालक' के संपादक के रूप में शिवजी का नाम छपने लगा। लगभग इसी समय कुछ महीनों के लिए शिवजी लहेरियासराय चले गये। इन कुछ महीनों में ही शिवजी का नाम संपादक के रूप में छपा। पर वहाँ से भी शिवजी क्षुब्ध होकर सितंबर के अंत में काशी लौट आये। पं. रामगोविन्द त्रिवेदी को एक पत्र में उन्होंने अपने मन की व्यथा लिखी : "आज भर यहाँ लहेरियासराय हूँ। मैंने 'बालक' का संपादन-कार्य छोड़ दिया। अब काशी में आकाशवृत्ति के सहारे रहूंगा। उपवास करके भी वहीं रहना है। काशी किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता। इस दृढ़ संकल्प को विश्वनाथ ही निबाहेंगे। काशी के कारण ही नौकरी छोड़कर निठल्ला बनने जा रहा हूँ। मैंने नौकरी छोड़ दी है तो विश्वनाथजी वहीं बैठे रोजी देंगे।"

काशी आकर एक बार फिर शिवजी के सामने जीविका की समस्या खड़ी हुई। विवाह से कुछ पहले छत से गिरने से उनके दायें पाँव की एड़ी टूट गई थी जिसके कारण विवाह की तिथि कई महीने टल गई थी। इन दिनों वे बनारस के तेलियाबाग के एक अग्रवाल प्रेस का कुछ फुटकर काम किया करते थे, और भंडार का भी कुछ काम वहाँ कराते थे। पैर टूटने के बाद कई महीने वे खाट पर पड़े रहे और उस समय अग्रवाल प्रेस ने दवा-इलाज के लिए इन्हें खुले हाथों कर्ज़ दिया। वक़्त-बेवक़्त और भी कर्ज़ लेना ही पड़ा था। एक वक़्त आया जब अग्रवाल प्रेस ने शिवजी पर रुपयों के लिए नालिश ठोक दी।

लहेरियासराय से लौटने के बाद शिवजी को अनिच्छापूर्वक पं. रामगोविन्द त्रिवेदी के लगातार बुलावे पर सुल्तानगंज (भागलपुर) से निकलने वाली पत्रिका 'गंगा' का संपादन करने नवंबर, 1930 में वहाँ जाना पड़ा। मार्च, 1931 में काशी आकर वे अपना परिवार भी सुल्तानगंज ले गये। इसी बीच अग्रवाल प्रेस वाले मुकदमे और ज़मीन-जायदाद के बंटवारे के झमेलों से निबटने के लिए वे काशी और अपने गाँव

का चक्कर लगाते रहे। अंततः दिसम्बर, 1931 में 'गंगा' से त्यागपत्र देकर वे काशी वापस चले गये। सुल्तानगज के उनके अनुभव भी कुछ सुखकर नहीं थे।

सदा घेरे रहने वाला आर्थिक संकट, स्थायी और सम्मानजनक नौकरी के अभाव से उत्पन्न अस्थिरता एवं अस्तव्यस्तता, साहित्यसेवा के नाम पर गहन शोषण से समझौता, अपनी सृजनशीलता की निर्मम उपेक्षा से उपजी विवशता, गाँव के परिवार का निष्ठुर, स्वार्थपूर्ण व्यवहार — अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ से ही शिवजी इन विषम परिस्थितियों से संघर्ष करते रहे थे। अपने संस्मरण में विनोदशंकर व्यास ने लिखा है : "शिवपूजनजी की स्थिति देखकर मैं कभी-कभी मन में सोचता कि क्या विधाता ने इनके जीवन में कभी शांति की व्यवस्था नहीं की है। वैसे स्वभाव के भी वे कुछ संकोची ऐसे थे कि जिसने अपने काम में उन्हें लगाया उसने पूर्णरूप से उनकी शक्ति का रस निचोड़ने का ही प्रयत्न किया। ऊबकर घबड़ाकर भी वे मुक्त न हो पाते थे। कोई अन्य साधन भी सामने दिखाई न पड़ता था। कभी लहेरियासराय में हैं, कभी काशी में फुटकर काम कर रहे हैं, कभी प्रयाग में किसी ग्रंथ की छपाई में व्यस्त हैं। एक स्थान पर स्थिर होकर रहने का अवसर ही उन्हें नहीं मिलता था।"

व्यासजी और प्रसादजी, दोनों ही चाहते थे कि शिवजी निश्चिन्ततापूर्वक काशी में रहें। एक साहित्यिक पाक्षिक निकालने की योजना बनी और व्यासजी की नव-स्थापित प्रकाशन-संस्था पुस्तक मंदिर से 'जागरण' का पहला अंक 11 फरवरी, 1932 को शिवपूजन सहाय के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ। आकर्षक क्लेवर, श्रेष्ठ एवं विविधतापूर्ण सामग्री, कलात्मक, शुद्ध छपाई, सुरुचिपूर्ण एवं अनुभव-सिद्ध संपादन- 'जागरण' में एक श्रेष्ठ साहित्यिक पत्र के सभी गुण विद्यमान थे : कमी थी तो केवल व्यावसायिक निपुणता की। कुछ ही अंकों के बाद 'जागरण' की स्थिति बिलकुल डांवाडोल हो गई। शुद्ध साहित्यिक पत्रिका का पाठक-वर्ग शायद कभी इतना बड़ा होता ही नहीं कि उसके बल पर वह चलती रह सके। व्यासजी ने 'जागरण' को बंद कर देने का निश्चय कर लिया। 'जागरण' का अंतिम शिव-संपादित अंक 1932 की 17 जुलाई को निकला। व्यासजी और प्रेमचंदजी के बीच हुए एक समझौते के अनुसार 'जागरण' का प्रकाशन और संपादन का भार प्रेमचंदजी ने ग्रहण कर लिया था और शीघ्र ही वह एक साहित्यिक-राजनीतिक साप्ताहिक के रूप में उनके सरस्वती प्रेस से निकलने वाला था। इस परिवर्तन की पीड़ा को मधुर परिहास में घोलकर शिवजी ने इन शब्दों में व्यक्त किया :

"हमारे खुरारबिंद की ऐसी महिमा है कि जहाँ जाते हैं, चापड़ कर डालते हैं। पहले-पहल मारवाड़ी सुधार का बंटाढार किया। फिर आदर्श और उपन्यास-तरंग का छत्रभंग किया। यदि 'बालक' और 'गंगा' को न छोड़ते, तो उन्हें भी ले बीतते।

और, यदि जागरण को प्रेमचंदजी अपना पोसपुत्तर न बना लेते, तो शायद इसकी भी खैर न थी। पर अब किसी की मिट्टी खराब नहीं करेंगे। हमने बहुत-से पापड़ बेले हैं, अब एकतारा लेकर केवल यही भजन गाया करेंगे—अब लौं नसानी अब ना नसैहों . . ."।

'जागरण' से मुक्त होकर भी शिवजी अपनी सांसारिक विपदाओं में पहले की ही तरह उलझे रहे। अग्रवाल प्रेस वाले मुकदमें में फैसला शिवजी के खिलाफ हुआ था, और पूरे परिवार की ज़मीन के नीलाम होने की नौबत आ गई थी। किसी-किसी तरह बीच-बचाव से सुलह हुई। जुलाई के बाद के कई महीने इस महा-संकट से उबरने में बीत गये। नवंबर, 1932 के लगभग शिवजी 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ' के संपादन के सिलसिले में प्रयाग गये और वहाँ इंडियन प्रेस की अतिथिशाला में लगातार कुछ महीने रहकर ग्रंथ का संपादन करते रहे। द्विवेदीजी की उनहत्तरवीं वर्षगांठ के अवसर पर उनको एक अभिनंदन ग्रंथ भेंट करने का मूल प्रस्ताव शिवजी का ही था। यह सर्वांगसुंदर ग्रंथ सचमुच शिवजी के संपादन कौशल का अनुपम उदाहरण है। यद्यपि ग्रंथ के संपादक के रूप में केवल बाबू श्यामसुंदर दास एवं रायकृष्ण दासजी का नाम छपा था, लेकिन संपादन-कार्य का गुरुतर भाग शिवजी के कंधों पर ही था। उन्होंने लिखा है :

"वह कई महीनों के लगातार परिश्रम की बड़ी लंबी कहानी है। मैं महीनों इंडियन प्रेस में बैठकर अभिनंदन-ग्रंथ तैयार करता रहा : पर जब उसके समर्पण का समय आया तब मेरे पाँच वर्ष के पुत्र अर्द्धेन्दु शेखर आनंदमूर्त्ति पर शीतला भवानी का भयंकर आक्रमण हुआ। काशी से तार पाते ही मैंने प्रेस से प्रस्थान किया। उस दिन से एक डेढ़ महीने तक दरवाजे से बाहर नहीं निकला। काशी में अभिनंदन समारोह हो रहा था, मैं व्यग्र बच्चे की सुश्रुषा में व्याकुल था। महीनों से पूजा के फूल संजोता रहा, पर पूजा के समय 'देवता' के दर्शन से भी वंचित रहा। श्री मैथिलीशरण जी और रायसाहब द्विवेदीजी का लिखा हुआ एक श्लोक मुझे दे गये और कह गये कि आचार्य का हृदय सहानुभूति से विह्वल है; पर अस्वस्थ हो जाने से यहाँ तक आने में असमर्थ हैं — बच्चे को यह आशीर्वाद दिया है। उस श्लोक में बच्चे के आरोग्य-लाभ के लिए जगदंबा की प्रार्थना थी। रंक की निधि की तरह उसे जुगाकर रख लिया।"

द्विवेदी-अभिनंदनोत्सव काशी नागरी प्रचारिणी सभा में 3 मई, 1933 को हुआ था। इस महनीय कार्य की समाप्ति के बाद शिवजी पुस्तक-भंडार के बुलावे पर दिसंबर 1933 में लहेरियासराय चले गये। परिवार — जिसमें अब उनके ज्येष्ठ पुत्र के बाद दो पुत्रियों, सरोजिनी (अगस्त, 1931) तथा विनोदिनी (जुलाई, 1933) का आगमन हो चुका था – बुलानाला के महाशक्ति औषधालय वाले मकान में, अभी काशी में

ही रहता था। शिवजी लहेरियासराय में ही थे जब 15 जनवरी, 1934 को प्रलयंकारी भूचाल आया। इस भूचाल में पुस्तक भंडार पूरी तरह ध्वस्त हो गया था। बड़ी कठिनाई से शिवजी लहेरियासराय से काशी पहुँच सके थे। फिर कई महीने लग गये थे पुस्तक भंडार को अपना प्रेस और प्रकाशन झोपड़ियों में खड़ा करने में।

शिवजी अंततः सपरिवार 1935 के पूर्वार्द्ध में लहेरियासराय चले आये। जीविकोपार्जन की विवशता ही उन्हें काशी से खींच लाई, अन्यथा वे अपना शेष जीवन काशी में ही व्यतीत करना चाहते थे। इसकी चर्चा उन्होंने विशेष रूप से प्रसादजी, विनोदशंकर व्यास तथा रामगोविंद त्रिवेदी के पत्रों में बार-बार की है। शिवजी कभी काशी छोड़ना नहीं चाहते थे, क्योंकि प्रसाद और प्रेमचंद के साथ-साथ काशी में उन दिनों साहित्यिकों का एक विशाल मंडल था – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, बाबू श्यामसुंदर दास, लाला भगवानदीन, आचार्य ललिताप्रसाद शुक्ल, रत्नाकरजी, रायकृष्ण दास, विनोदशंकर व्यास आदि हिन्दी की विभूतियाँ वहाँ एकत्र थीं, और शिवजी हृदय से काशी में रम चुके थे। काशी छूटने का दर्द उनके हृदय में आजीवन बना रहा।

काशी हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा का प्रधान तीर्थ था। लहेरियासराय में शिवजी उससे प्रायः कटकर पूरी तरह पुस्तक भंडार के पुस्तकों-प्रकाशनों के संशोधन संपादन में लग गये। रामलोचन शरण (मास्टर साहब) की प्रारंभ से यही चेष्टा भी थी। शिवजी को उन्होंने अपना साहित्यिक प्रबंधक बना लिया और उनकी संपादकीय प्रतिभा का पूरा उपयोग अपने व्यावसायिक हित में करने लगे। 'बालक' के संपादन का सारा काम शिवजी करते थे, पर संपादक के रूप में नाम रामलोचन शरण का ही जाता था। शिवजी लगातार 1934 से 1939 तक लहेरियासरास के पुस्तक भंडार में रहे, जो उन दिनों हिन्दी की एक समर्थ और विख्यात प्रकाशन संस्था थी। पुस्तक भंडार के पास एक बहुत अच्छा अपना प्रेस था, और शिवजी को सपरिवार एक झोपड़ी में उसी परिसर में रखा गया था। बाद में वे निकट ही अलग मकान लेकर भी रहे, पर इन पाँच वर्षों में शिवजी को साँस लेने का भी अवकाश नहीं दिया गया जिसमें वे — छिटपुट लेखन के अलावा — कोई गंभीर दीर्घकालिक लेखन कर सकें।

शिवपूजन सहाय ने अपने जीवनकाल में जितना मौलिक लेखन किया अभी तक शायद उसका आधा ही 'शिवपूजन रचनावली' के चार खंडों (लगभग दो हजार पृष्ठों) में संकलित हुआ है। शेष सामग्री, जिसमें उनकी बहुमूल्य डायरियाँ, संस्मरण, निबंध, पत्रादि हैं, आज भी प्रायः असंकलित ही हैं। लेकिन यदि दूसरों के नाम से लिखी हुई अथवा संशोधन के नाम पर लगभग पुनर्लिखित सामग्री का अनुमान लगाने की कोशिश की जाये तो वह परिमाण में अकूत पाई जायेगी। केवल 'जागरण' के संपादन-काल की विभिन्न लेखकों की पांडुलिपियों अथवा राजेन्द्र अभिनंदन ग्रंथ की संपादित पांडुलिपियों को ही देखा जाये – जो सब उनके संग्रहालय में सौभाग्य से

संचित रह गई हैं – तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि शिवजी का जितना समय मौलिक लेखन में लगा, उससे कितना गुना अधिक समय उन्होंने दूसरों के लिए लिखने में लगाया। निस्संदेह ऐसा करते हुए वे हिन्दी के प्रति अपनी समर्पित सेवा-भावना के कारण सेवा-सुख का अनुभव करते थे, पर ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य को न्यूनतम पारिश्रमिक पर जीविका का साधन बनाने की विवशता का जो शोषण-पक्ष था, उसकी व्यथा कभी-कभी ऐसी किसी पंक्ति में उभर आती थी जो उन्होंने सुल्तानगंज में रहते हुए प्रसादजी के एक पत्र में लिखी थी, 'विश्वनाथजी की ऐसी ही इच्छा है कि मैं जीवन भर पिसौनी करता रहूँ और चोकर मजूरी में पाऊं"।

जब शिवजी पहली बार स्थायी रूप से रहने के लिए लहेरियासराय गये थे, ठीक उसी समय उपेन्द्र महारथी भी पुस्तक भंडार में चित्रकार के रूप में नियुक्त होकर आये थे। वे उन दिनों शिवजी से पारिवारिक स्तर पर जुड़े रहे थे और उनके संस्मरणों में उन दिनों की चर्चा है। महारथीजी ने लिखा है : "भाईजी (शिवजी) जब तक पुस्तक-भंडार में रहे, हिन्दी-संसार के प्रायः सभी साहित्यिक लहेरियासराय में उनके पास पहुँचते थे। वे स्वयं एक तीर्थ-पीठ का देवत्व लेकर बैठते थे जिससे साहित्यिक उनके पूजन और दर्शन के निमित्त दूर-दूर से आते थे। जब वे छपरा राजेंद्र कॉलेज के प्रोफेसर होकर चले गये, तबसे लहेरियासराय में कोई हिन्दी का लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान नहीं आया। उनके जाने से पुस्तक-भंडार मानों श्रीहीन हो गया।"

शिवजी का लहेरियासराय का पारिवारिक जीवन अवश्य सुखमय था। पत्नी अत्यंत कुशल गृहिणी थीं। तीनों बच्चे स्कूल में पढ़ने लगे थे। अंतिम कनिष्ठ पुत्र मंगलमूर्त्ति का जन्म भी 1937 में हो चुका था। शिवजी का परिवार भरा-पूरा था। रामलोचन शरण की भी हार्दिक इच्छा थी कि शिवजी की कोटि का साहित्यकार स्थायी रुप से भंडार की सेवा में रह जाये। पर जब नव-स्थापित राष्ट्रीय महाविद्यालय, राजेंद्र कॉलेज, छपरा मे हिन्दी प्राध्यापक के रूप में शिवजी की नियुक्ति का प्रस्ताव आया तो शिवजी की पत्नी को जितनी प्रसन्नता हुई, मास्टर साहब को उतना ही क्लेश हुआ। लेकिन इस नियुक्ति में भगीरथ प्रयत्न रहा श्री उमानाथ का, जो कॉलेज शासी निकाय के सदस्य थे, और डॉ. राजेंद्र प्रसाद के भी प्रिय पात्रों में थे। नियुक्ति के समय जब डिग्रियों का प्रश्न उठाया गया – क्योंकि शिवजी के पास युनिवर्सिटी की कोई डिग्री नहीं थी – तब उमानाथजी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष बाबू श्यामसुंदर दास तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा पटना विश्वविद्यालय के कतिपय वरिष्ठ हिन्दी प्राध्यापकों से अभिशंसा-पत्र लाकर विश्वविद्यालय के 'विद्वद्परिषद' से स्वीकृति प्राप्त की। इस प्रसंग की चर्चा बाद में उनके विभागीय सहयोगी प्रो. मुरलीधर श्रीवास्तव ने अपने संस्मरण में की है —

" . . . स्वयं श्यामसुंदर दासजी, शुक्लजी, हरिऔधजी और दीनजी की नियुक्ति भी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य की सेवा के बल पर ही हुई थी। फिर, शिवजी की नियुक्ति में भी कोई आपत्ति नही उठनी चाहिए। ऐसा विश्वास लेकर ही राजेंद्र कॉलेज के अधिकारियों ने उनकी नियुक्ति करने का निश्चय किया। शिवजी प्राध्यापक बनने को लालायित न थे – यदि उन्हें बुलाया जाये, तो आ सकते थे; पर इंटरव्यू के झमेले और अनिश्चय में वे नहीं पड़ना चाहते थे।"

शिवजी 1939 में 15 नवंबर को, नवस्थापित राजेंद्र कॉलेज में, हिन्दी प्राध्यापक पद पर नियुक्त होकर सपरिवार छपरा चले आये। अंग्रेज़ी के प्राध्यापक, पर हिन्दी में साहित्य-रचना करने वाले मनोरंजन प्रसाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से वहाँ प्राचार्य-पद पर आये थे, और छायावादी कवि, कथाकार एवं समालोचक पं. जनार्दन प्रसाद झा द्विज हिन्दी विभागाध्यक्ष थे। प्रारंभ में शिवजी के आने से 'द्विजजी' कुछ आशंकित रहे, किन्तु शीघ्र ही शिवजी की अतिशय विनयशीलता एवं सहृदयता से सबलोग प्रभावित हो गये, और अपनी अभिनव एवं मौलिक अध्यापन शैली से शिवजी ने छात्रों का हृदय पूरी तरह जीत लिया। सम्मानजनक पद और वेतन, स्वाध्याय और मौलिक सृजन का समुचित अवकाश, समाज और साहित्य की सेवा का पर्याप्त अवसर, पत्नी और चार बच्चों से भरापूरा, खुशहाल परिवार — कुल मिलाकर शिवजी के लिए ये सुख से भरे दिन थे। उनका जीवन नियमित, संयमित, संतुलित और सुखपूर्ण था। किन्तु नियति की ऐसी क्रूर विडंबना हुई कि जीवन जब सुख-शांति के शिखर की ओर बढ़ने लगा, तभी ठीक साल पूरा होते ही उनकी पत्नी का 1940 के 16 नवंबर को कुछ दिन की बीमारी के बाद निधन हो गया। शिवजी के जीवन का यह सबसे दुखद प्रसंग था। वे पूरी तरह टूट गये, फिर भी बड़े धैर्य के साथ उन्होंने इस संकट का सामना किया। चार छोटे अबोध बच्चों के पालन-पोषण की समस्या अचानक सामने आ गई, लेकिन बच्चों की देखभाल ननिहाल के परिवार द्वारा होने लगी। किन्तु शिवजी के व्यक्तिगत जीवन में जो रिक्तता एवं विषण्णता घिर आई उसकी व्यथा-कथा उनकी दैनंदिनी के पृष्ठों में एक करुण संगीत की तरह बजती रही। पत्नी-शोक के कुल ढाई महीने बाद इस करुण रागिनी के स्वर उनके उस अध्यक्षीय भाषण में स्पष्ट सुनाई पड़े जो उन्होंने बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सत्रहवें अधिवेशन (पटना) के सभापति पद से दिया था —

"साहित्य से संबद्ध हृदय स्वभावतः सुकुमार होता ही है। वह अपनी परम प्रिय वस्तु के बिछड़ने से यदि व्यथित हो तो इसमें कोई विस्मय या अस्वाभाविकता नहीं। मुझे अपनी जीवन-संगिनी के वियुक्त होने का जो दुख है वह तो है ही, सबसे बड़ा दुख इस बात का है कि इस सम्मेलन का सभापतित्व स्वीकार करने के लिए उस देवी ने आज से पहले जब-जब आग्रह किया, मैं बराबर असमर्थता प्रकट करता

गया। किन्तु आज जब उन्हें मेरा संग छोड़े कुल ढाई महीने हुए, मैं निष्ठुर उसी स्थान पर खड़ा हूँ जहाँ मुझे देखने के लिए उनके ललाम लोचन लालायित ही रहकर लोकांतरित हो गये। यह स्मृति और भी व्यथित करती है कि वे मेरे साथ सम्मेलन के महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए ही बार-बार आग्रह करती रहीं; इसलिए अब उनके अतृप्त नेत्रों का ध्यान टाले नहीं टलता। वे न सुशिक्षिता थीं, न साहित्य की सेविका ही। पर साहित्य-सेवकों की सेविका अवश्य थीं। काशी, दरभंगा और छपरा में मेरे साथ ही लगातार बारह वर्षों तक रहने के कारण युक्तप्रांत और बिहार के अनेक प्रमुख साहित्य-सेवियों के स्वागत-सत्कार का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हो चुका था। उनके आतिथ्य की स्मृति आज भी बहुतों के पास बिलखती होगी। मैं उन्हें साहित्य की शिक्षा न दे सका था; पर प्रेम का पाठ उन्हीं से पढ़ा था। गृहणीत्व, पत्नीत्व और मातृत्व का विशद विकास होने से वे स्वयं ही साहित्य की मनोज्ञ मूर्त्ति बन गई थीं। उसी मूर्त्ति के सहसा विलीन होने से हृदय में रह-रहकर हाहाकार उठा करता है।"

फरवरी, 1941 की 'सुधा' पत्रिका में स्व. श्रीमती बच्चनदेवी पर एक सचित्र शोक-टिप्पणी प्रकाशित हुई थी। पत्रिका का अंक जब शिवजी को मिला, उनके बच्चे माँ का चित्र देख बिलख-बिलखकर रोने लगे। बच्चों को गोद में समेटकर स्वयं शिवजी भी रोये। छपरा में बीते इन प्रारंभिक वर्षों की डायरियों के पृष्ठ शिवजी के दुःख-कातर हृदय की पीड़ा से ओतप्रोत लगते हैं।

"स्व. पत्नी की स्मृतियाँ क्लेशकर हैं। यमयंत्रणा का अनुभव जीवनकाल में असंभव है। यदि उसका समकक्ष होने योग्य कोई और यातना अथवा वेदना हो तो मेरी हार्दिक पीड़ा और मानसिक व्यथा की किसी तरह तुलना हो सकती है (13.1.41) . . . स्वर्गीया पत्नी का रुपरंग और वेश-विन्यास तथा हास-परिहास कभी भूलता नहीं। वैसी देवी अब नहीं मिलेगी। हे प्रभो, जन्मांतर में जहाँ कहीं जैसे भी रहूँ वही देवी मेरी पत्नी हो। उसीका प्रेम आजीवन मेरे चरित्र की रक्षा करे। उसी की स्मृतियां मेरे हृदय को पवित्र करती रहें। उसीका ध्यान मेरी कल्पना को विशुद्ध रखे" (17.2.41)।"

पत्नी की स्मृतियाँ और उनका ध्यान शिवजी के शेष जीवन के धरोहर बन गये। उनकी साहित्य-साधना उन स्मृतियों से निरंतर सुरभित और संपुष्ट होती गई। छपरा में बीते प्राध्यापकी के दस वर्ष शिवजी के जीवन में सघन स्वाध्याय और साहित्य-साधना के वर्ष थे। इस दशक में शिवजी ने अनेक साहित्यिक आयोजनों में सभापतित्व किया, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनके सैकड़ों लेख छपते रहे, पुस्तक भंडार (लहेरियासराय) से प्रकाशित महत्त्वपूर्ण शोधोपयोगी ग्रंथ 'जयंती-स्मारक-ग्रंथ' एवं कई अन्य पुस्तकों, जैसे स्वामी भवानीदयाल सन्यासी के 'प्रवासी प्रपंच' आदि

का संपादन किया। इस दशक में उन्होंने अ.भा. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बत्तीसवें अधिवेशन (जयपुर, 1944) में उसकी साहित्य परिषद का सभापतित्व किया था तथा उससे पूर्व फरवरी, 1942 में बरहज (गोरखपुर) की हिन्दी साहित्य परिषद की अध्यक्षता की थी। इस दशक में विभिन्न साहित्यिक आयोजनों में सभापति-पद से दिये गये उनके भाषण उनकी रचनावली में प्रकाशित हैं।

इस पूरे दशक में उनकी अनेक साहित्यिक यात्राएं हुई जिनमें जयपुर और गोरखपुर की यात्राएं महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों ही यात्राओं की चर्चा उन्होंने अपनी डायरी तथा संस्मरणों में की है। वैसे भी प्रायः प्रति सप्ताह उन्हें पटना-छपरा जाना-आना पड़ता ही था। अक्सर लहेरियासराय भी जाना होता था। इस बीच पुस्तक-भंडार का मुख्यालय पटना आ गया था, यद्यपि प्रकाशन का बहुत सारा काम लहेरियासराय से ही होता था। पुस्तक-भंडार (पटना) से एक साहित्यिक मासिक पत्रिका 'हिमालय' के प्रकाशन की योजना बनी, जिसका संपादन बेनीपुरी और दिनकर के साथ शिवपूजन सहाय को करना था। 'हिमालय' का पहला अंक फरवरी, 1946 में निकला। संपादक के रूप में नाम था शिवपूजन सहाय और रामवृक्ष बेनीपुरी का। मछुआटोली मुहल्ले में भंडार की ओर से 60 रु. किराये का एक मकान ठीक हुआ जिसमें शिवजी और बेनीपुरीजी रहने लगे। 'हिमालय' कार्यालय साहित्यकारों का एक मिलन-स्थल बन गया। एक बार फिर शिवजी पुस्तक भंडार के विभिन्न प्रकाशनों, जिसमें 'बालक' भी शामिल था, तथा बेनीपुरी, दिनकर आदि लेखकों की पुस्तकों का संशोधन-संपादन करने लगे। साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'मतवाला', 'गंगा', 'जागरण' आदि के मानक संपादन से जो कीर्तिमान शिवजी ने स्थापित किया था, 'हिमालय' में वह अपने शिखर पर पहुँच गया। रूपसज्जा, संपादन, सामग्री – सभी दृष्टियों से 'हिमालय' का हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता में अप्रतिम स्थान है।

पत्नी के देहांत के बाद छपरा में रहते हुए शिवजी का स्वास्थ्य सहसा उपेक्षित हो गया। गृहिणी के न होने से घरेलू व्यवस्था ढीली पड़ने लगी। यद्यपि ससुराल के लोग साथ रहकर बच्चों की देखभाल कर रहे थे, फिर भी उनकी चिंता दैनिक जीवन का एक आवश्यक अंग बन गई। पटना विश्वविद्यालय की बैठकों में, अथवा अन्य कार्यों के ब्याज से उन्हें अक्सर पटना जाना पड़ता था। यही समय देश में 'भारत छोड़ो' आंदोलन के उथल-पुथल का भी था। शिवजी ने बच्चों की हिफ़ाज़त के लिए उन्हें अपने गाँव भेज दिया। बच्चियाँ बड़ी हो रही थीं, इसकी चिंता अलग थी। बच्चे स्कूल जाने लगे थे। ऐसी स्थिति में पत्नी के अभाव की अनुभूति अक्सर डायरी के पृष्ठों में अभिव्यक्ति पाती थी।

शिवजी ने 1945 के प्रारंभ में ही मन बना लिया था कि वे कुछ दिनों के लिए प्राध्यापकी से छुट्टी लेकर अपने गाँव-घर की समस्याओं की ओर ध्यान देना

चाहेंगे। परिवार में बंटवारे का झमेला एक बार फिर जोर पकड़ रहा था, और इस बार वे इसका स्थायी समाधान कर देना चाहते थे। उन्होंने बच्चों को गाँव भेज दिया। खुद गाँव जाकर बटवारा करा दिया। ग्रीष्मावकाश में तो वे ज्यादातर अपने गाँव पर रहकर अपने पुस्तकालय की देखभाल में ही अपना समय बिताना चाहते थे। अगस्त 21, 1945 से उन्हें कॉलेज से एक साल की छुट्टी मिल गई। गर्मी और बरसात के ये 6-7 महीने शिवजी ने अपने गाँव पर ही बिताये। उनके प्रयास से गाँव में एक ग्राम-सुधार-सभा की स्थापना हुई थी जिसके अंतर्गत एक चरखा संघ भी चल रहा था। उन दिनों की अपनी डायरी में उन्होंने अक्सर गाँवों की दुर्दशा और उनके आवश्यक सुधार पर बार-बार लिखा है —

"गाँव की दशा शोचनीय है। परस्पर विरोध, कलह, मनोमालिन्य, वैमनस्य। ईश्वर की अपार दया से ही गाँव की दशा सुधर सकती है। गाँव के लोग मोहान्धकार में पथभ्रष्ट। . . . गाँव में अविद्या का अंधकार छा रहा है। शिक्षाप्रचार अत्यावश्यक है। अच्छा तो होता कि पहले केवल हिन्दी पाठशाला और संस्कृत पाठशाला खोली जाती। हिन्दी की शिक्षा ही आवश्यक है। अंग्रेज़ी की शिक्षा का प्रचार आवश्यक नहीं है। . . . बरसात के कारण देहात में बड़ा कष्ट हो रहा है। कीचड़ और मच्छ से बहुत घिन और कष्ट है। वर्षाकाल में गाँव गंदा हो गया है। सफाई पर किसी का ध्यान ही नहीं है। ग्राम्य जीवन में कष्ट और असुविधा से मुक्त होने की प्रवृत्ति नहीं है। संगठन शक्ति का अभाव है। . . . ग्रामसुधार के लिए त्यागी बनने की आवश्यकता है। त्यागी कोई बन नहीं सकता, वह बना हुआ ही पैदा होता है। . . . मन में रह-रहकर भाव जाग उठता है कि वाणप्रस्थ का जीवन बिताने के लिए पोखरे के शिव मंदिर पर या पूरब के शिवालय पर डेरा डालूं, दिन-रात वहीं रहूँ। शिवजी की पूजा, स्वाध्याय, आत्मचिंतन और ग्रामसुधार का काम करता रहूँ। ग्राम-सुधार-सभा तभी चलेगी जब उसीके लिए जीवन अर्पित करके दृढ़ आसन जमाकर शिवजी की शरण में बैठ जाऊँगा।"

ग्राम-सुधार और गाँवों की समस्याओं पर इन्हीं दिनों लिखे शिवजी के बहुत सारे लेख अंततः उनकी पुस्तक 'अन्नपूर्णा के मंदिर' में संकलित हुए। उससे पूर्व 1948 में उन्होंने अपनी 'ग्राम-सुधार' पुस्तक प्रकाशित की थी जिसमें गाँधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों के अनुसार ग्राम-सुधार की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी। उसमें शिवजी ने स्पष्ट लिखा – "महात्मा गाँधी का रचनात्मक कार्यक्रम गाँवों में तभी ठीक तरह चालू हो सकता है जब ऊँचे विचार के त्यागी और सहनशील कार्यकर्ता, शहरों का मोह छोड़कर, गाँवों में ही आसन जमाकर बैठ जायेंगे। . . . ग्रामोद्धार, ग्राम-सुधार, ग्राम-संगठन आदि की चर्चा तो बरसों से होती आ रही है, मगर अभी तक गाँवों के लिए ठोस काम बहुत कम हुआ है। अब तो गाँववालों को खुद ही

जागना चाहिए। दूसरों के भरोसे किसी की उन्नति कभी हुई भी नहीं है। बस, गाँववाले अपने पाँव पर खुद खड़े हो जायें।"

अगस्त, 1946 में साल-भर की छुट्टी के बाद शिवजी पुनः छपरा कॉलेज वापस आ गये। इस बीच 'हिमालय' के पाँच अंक निकल चुके थे जिनमें राजेंद्र बाबू की 'आत्मकथा' के आरंभिक अंश छपे थे। किन्हीं कारणों से इन पाँच किस्तों में राजेंद्र बाबू की भाषा से कोई संपादकीय छेड़छाड़ नहीं की गई थी – शायद राजेन्द्र बाबू के निजी सचिव चक्रधर शरण का ऐसा ही आदेश था। उसके बाद 'आत्मकथा' की मूल कापी वापस मँगा ली गई और 'हिमालय' में उसका छपना बंद हो गया। पर कुछ ही दिन बाद उसे फिर शिवजी को संपादन के लिए सौंपा गया। ग्रंथ का मुद्रण इलाहाबाद के इंडियन प्रेस में होना था, और उसे मेरठ कांग्रेस से पहले प्रकाशित हो जाना था। इस काम के लिए शिवजी को कॉलेज से विशेष छुट्टी दिलाई गई और इलाहाबाद जाकर शिवजी इंडियन प्रेस की अतिथिशाला में रहकर 'आत्मकथा' के संपादन में दत्तचित्त हो गये।

"आज भी दिन-रात राजेंद्र बाबू की आत्मकथा की प्रेसकापी तैयार करता रहा। संशोधन और संपादन करने में बहुत समय लगता है। उनकी मौलिक शैली की रक्षा का बराबर ध्यान रख उचित संशोधन करता हूँ। कहीं-कहीं थोड़ी देर ठिठककर सोचना-विचारना पड़ता है। कहीं-कहीं पुनरुक्ति का भ्रम होता है; पर पिछली कापियाँ प्रेस में हैं और ग्रंथ बहुत विशाल है, इसलिए जहाँ तक याद पड़ता है वहाँ तक पुनरुक्ति निकाल देता हूँ और भाषा की सरलता तथा अभिव्यंजना की सुबोधता का निर्वाह करता जाता हूँ (डायरी : 1.11.46)। . . . यह साहित्यिक महायज्ञ है एक प्रकार से। यह ग्रंथ अपने ढंग का अकेला होगा। इससे बिहार का गौरव बढ़ेगा। यदि मैं इसका प्रूफ भी देख सकता तो यह और भी सुंदर और प्रमाणिक होता, केवल कापी देखने में मन का संदेह नहीं मिटता। . . . रामजी चाहते हैं कि मैं बिहार के इस विशाल ग्रंथ को पूरा करूँ और शुद्ध बनाऊँ (11.11.46)"।

'आत्मकथा' जनवरी, 1947 में साहित्य संसार, पटना से प्रकाशित हुई। शिवजी द्वारा संशोधित 'आत्मकथा' की मूल पांडुलिपि संभवतः पटना के राजेंद्र संग्रहालय में सुरक्षित है। किन्तु भाषा-संशोधन में शिवजी ने कैसा परिश्रम किया था, और राजेंद्र बाबू की सरल, पारदर्शी भाषा उससे किस तरह निखर उठी थी, यह समझने के लिए 'हिमालय' के प्रथम पाँच अंकों में प्रकाशित अंशों को 'आत्मकथा' के अंततः प्रकाशित पाठ से मिलाकर देखना रुचिकर होगा। सचमुच यह कार्य एक साहित्यिक महायज्ञ था और इससे बिहार की गौरववृद्धि हुई है। प्रेमचंद की 'रंगभूमि' के संशोधन-संपादन के बाद यह शिवजी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संपादन-कार्य था, इसमें कोई संदेह नहीं।

छपरा लौटकर पुनः शिवजी प्राध्यापन और संपादन-संशोधन के काम में लग गये। पहले से ही 'राजेंद्र अभिनंदन ग्रंथ' के संपादन का कार्य वे करते रहे थे। 'हिमालय' का काम वे अब ज़्यादातर छपरा से ही करते थे, यद्यपि प्रायः हर हफ्ते-तीसरे दिन उन्हें युनिवर्सिटी या अन्य कार्यों से पटना जाना ही पड़ता था। इन्हीं दिनों उन्होंने दिनकर के 'कुरुक्षेत्र', 'हुंकार', 'द्वंद्वगीत', और बेनीपुरी के 'जयप्रकाश' और 'माटी की मूरतें' आदि का भी संपादन किया था। इनके अलावा भी उनके अनेक लेखक-मित्र शिवजी के संपादन-कौशल से साधिकार लाभान्वित होना चाहते थे। शिवजी अपने मन की व्यथा केवल अपनी डायरी के पृष्ठों तक ही सीमित रखते थे। "अब आँखें ठीक काम नहीं करतीं। प्रूफ देखते-देखते आँखें चौपट हो गईं। असंख्य फार्मों के प्रूफ मैंने देखे और शोधे होंगे। जीवन नष्ट हो गया। जितना प्रूफ देखा उतना लिख डालता तो दस हज़ार पृष्ठों से कम नहीं होता।"

'हिमालय' का प्रकाशन काफी पिछड़ता जा रहा था। पुस्तक-भंडार के मालिक, रामलोचन शरण उसके प्रति पूरी तरह उदासीन हो चुके थे। बारहवाँ जनवरी, '47 अंक पूरे नौ महीने विलंब से अक्तूबर, '47 में प्रकाशित हुआ। शरणजी ने ऐसी परिस्थितियां पैदा कर दी थीं कि ऊबकर और अपमानित होकर शिवजी जनवरी, '48 में प्रकाशित तेरहवें अंक के बाद 'हिमालय' से अलग हो गये। सौभाग्य से इसी बीच शिवजी की दोनों पुत्रियों का विवाह तय हो गया और अप्रैल, '48 में वे दोनों पुत्रियों के विवाह से निश्चिंत हो गये।

अत्यधिक श्रम और कुपोषण के कारण शिवजी का स्वास्थ्य पिछले तीन-चार वर्षों से गिरता जा रहा था। मधुमेह के लक्षण बहुत स्पष्ट थे, यद्यपि उसके उपचार की ओर किसी का ध्यान नहीं था। पुत्रियों के विवाह के समय भी वे गंभीर रूप से ज्वरग्रस्त थे और बड़ी मुश्किल से मौत के मुंह से लौट सके थे। यह एक विडंबना थी कि एक ओर तो मधुमेह के कारण आँखों की रोशनी घटती जा रही थी और दूसरी ओर उनपर पांडुलिपि शोधने और प्रूफ़ पढ़ने का अंबार लादा जा रहा था। बहुत बड़ा पारिवारिक बोझ होने के कारण वे सदा आर्थिक कष्ट में रहते, और शरीर को जैसे पोषण की आवश्यकता थी वह कभी सुलभ नहीं हो पाता था। कॉलेज में भी अक्सर चार-पाँच घंटे लगातार व्याख्यान देना पड़ता अथवा परीक्षा-भवन में चहलकदमी करनी पड़ती। कॉलेज और युनिवर्सिटी की कापियों के भारी भरकम बंडलों से निबटना पड़ता था। इतना अधिक श्रम अब शरीर के लिए सह्य नहीं था। लेखन-संपादन से इस जीवन में पिंड छूटना संभव था ही नहीं। कॉलेज छोड़ना ही एकमात्र विकल्प था और शिवजी ने अंततः इसी विकल्प को चुना।

'हिमालय' से शिवजी का नाता टूट चुका था, और बार-बार भरोसा दिलाकर भी बेटियों की शादी में पुस्तक-भंडार ने उनकी कोई मदद नहीं की थी, और उनको

अपना बहुत सारा खेत बंधक रखना पड़ा था। पुस्तक-भंडार को शिवजी ने अपने रक्त की बूँद-बूँद से सींचा था, लेकिन अंत में उन्हें वहाँ से बिलकुल खाली हाथ, अपमानित होकर हटना पड़ा। उन्होंने अत्यंत मर्माहत होकर एक पत्र बिहार प्रकाशक संघ के मंत्री को लिखा जिसमें उनकी फरियाद थी कि "पुस्तक-भंडार लहेरियासराय और पटना से मेरी जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, या जो प्रकाशित होने वाली थीं और अब अधूरी छपी पड़ी हैं, उनका प्रकाशनाधिकार लिखकर मैंने पुस्तक-भंडार को नहीं दिया है, फिर भी, उन पुस्तकों के अनेक संस्करण प्रकाशित कर बेच चुकने पर भी, पुस्तक-भंडार ने, आज तक, पुस्तकों के हिसाब में, मुझे एक पैसा भी कभी नहीं दिया है। . . . मैंने लिखकर उनसे निवेदन किया था कि मेरी पुस्तकें न छापें और न बेचें। किन्तु उन्होंने सूचना पाकर भी मेरी पुस्तकें छाप लीं। मैं अपनी कन्याओं के विवाह के कारण बहुत ऋणग्रस्त हो गया हूँ, इसलिए अपनी पुस्तकें अब अपनी ही इच्छा के अनुसार छपवाना चाहता हूँ। आपसे यही प्रार्थना है कि प्रकाशक-संघ में इस विषय को उपस्थित कर उचित निर्णय करा दीजिए।"

पुस्तक-भंडार से अलग होकर शिवजी पटना के कुछ और प्रकाशकों के संबद्ध हुए। पर शोषण की यह पटकथा लगभग वही रही। 'राजेंद्र अभिनंदन ग्रंथ' के संपादन-मुद्रण के क्रम में शिवजी पं. रामदहिन मिश्र के हिंदुस्तानी प्रेस आकर उसकी अतिथिशाला में रहते थे। बाद में उनकी दोनों पुस्तकें 'देहाती दुनिया' और 'विभूति' वहीं से प्रकाशित हुईं। मिश्रजी उनके पुराने मित्र और प्रशंसक थे, और उनका व्यावसायिक संबंध भी शिवजी के साथ ठीक निभ गया, पर कुछ नये प्रकाशकों से जुड़कर वे फिर शोषण की उसी क्रूर चक्की में पिसते रहे। पुस्तक भंडार के प्रबंधक पं. जयनाथ मिश्र ने उससे अलग होकर अपना नया प्रेस खोल लिया था – अजंता प्रेस। मिश्रजी ने शिवजी से कई स्कूली पुस्तकें लिखवाई और उन्हें पाठ्यक्रम में लगवाकर अपने प्रेस की नींव को खूब पुख़्ता बनाया। उसी तरह अशोक प्रेस ने भी शिवजी से कई स्कूल और विश्वविद्यालय स्तर की पुस्तकें तैयार कराकर अपनी स्थिति सुदृढ़ की। पर इन नये प्रकाशकों ने भी शिवजी के साथ न्याय नहीं किया। शिवजी वैसे भी बिना किसी लिखापढ़ी या अनुबंध के प्रकाशकों का काम किया करते थे, और इसी का नुकसान उन्हें बराबर उठाना पड़ता था। कभी-कभी वे अपनी पुस्तकों को औरों की तरह खुद छपवाने की बात सोचते भी, पर यह उनके बस की बात थी ही नहीं।

इन्हीं दिनों शिवजी ने अपने छोटे भाई के लड़के और अपने ज्येष्ठ पुत्र का विवाह 'मतवाला'-मंडल के अपने मित्र स्व. नवजादिकलाल जी की दो पुत्रियों से किया था, क्योंकि मुंशीजी की विधवा पत्नी की स्थिति मुंशीजी के निधन के बाद से ही चिंतनीय बनी हुई थी। तीन संतानों के विवाह से चिंतामुक्त होकर शिवजी

अपेक्षया संतोष का अनुभव कर रहे थे। पुत्रियों के विवाह के बाद घर में पुत्रवधू के आ जाने से गाँव की गृहस्थी की देखभाल की समस्या का समाधान हो गया था। गाँव के उनके पुस्तकालय का एक भवन भी इस बीच बन गया था, और पुस्तकों की हिफाजत के लिए काठ की कुछं आलमारियाँ भी वहाँ पहुँच गई थीं। इनमें चार आलमारियाँ राजेंद्र बाबू ने भिजवाई थीं। उनकी 'आत्मकथा' के संपादन के लिए जब राष्ट्रपतिजी की ओर से कुछ पारिश्रमिक या उपहार का प्रस्ताव आया था तो शिवजी ने बहुत आग्रह के बाद इन्हीं चार आलमारियों की मांग की थीं जो आज भी उनके गाँव के पुस्तकालय में उनके बहुमूल्य संग्रह की रक्षा कर रही हैं।

ग्रीष्मावकाश (1949) के बाद शिवजी जब छपरा लौटे तब तक यह चर्चा फैल चुकी थी कि वे शीघ्र ही किसी सरकारी नौकरी में पटना जाने वाले हैं। स्वयं शिवजी को भी पता नहीं था कि उन्हें स्थायी रूप से पटना बुलाने के प्रयास में उनके कई साहित्यिक मित्र लगे थे। उन दिनों बिहार सरकार के शिक्षा सचिव जगदीशचंद्र माथुर थे, और शिक्षा मंत्री थे आचार्य बदरीनाथ वर्मा। बिहार सरकार की नव-स्थापित संस्था बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के लिए एक वरिष्ठ साहित्यकार को उसके सचिव-पद पर लाने की बात थी, और इसके लिए उपयुक्त व्यक्ति की खोज थी। निर्णय किया गया था कि यह नियुक्ति विज्ञापन से नहीं, बल्कि सरकारी मनोनयन से होगी। शिक्षा विभाग में जो नाम-सूची बनी थी उसके चार-पाँच नामों में पहला नाम पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी का था, जो उन दिनों शांतिनिकेतन में थे और बिहार के बदले हिन्दू विश्वविद्यालय में जाने के इच्छुक थे। शिवजी का नाम उस सूची में नहीं था, और दिनकरजी का नाम सूची में अंतिम था। शिवजी के लिए उनके साहित्यिक मित्र – बिना उनकी जानकारी के – सघन प्रयास में लगे थे। नलिनविलोचन शर्मा, उमानाथ, बेनीपुरी और गंगाशरण सिंह की भूमिका इस कार्य में सबसे महत्त्वपूर्ण थी। मुख्यमंत्री सचिवालय में एक बार दिनकर का नाम लगभग तय हो चुका था, और इस प्रसंग को लेकर उस समय स्थानीय अखबारों में काफी चर्चा भी हुई थी, पर अंततः तत्कालीन वित्त मंत्री के हस्तक्षेप पर शिक्षा-विभाग ने शिवजी के नाम को ही मान्यता दे दी। दिसंबर-अंत (1949) में शिवजी को सरकारी सूचना मिल गई कि उन्हें बिहार राष्ट्रभाषा परिषद में मंत्री-पद के लिए चुना गया है, और उन्हें शिक्षा-मंत्री के सलाहकार के रूप में मध्य प्रदेश सरकार की ओर से नागपुर में होने वाले राष्ट्रभाषा प्रमाणीकरण-परिषद के अधिवेशन (4-7 जनवरी, 1950) में जाना है। अपनी 'आत्मकथा' में इस अधिवेशन की चर्चा करते हुए शिवजी ने लिखा है —

"अपराह्न-काल में असेम्बली-भवन में राष्ट्रभाषा प्रमाणीकरण-परिषद का अधिवेशन आरंभ हुआ। पूज्य राजेंद्र बाबू ने उद्घाटन-भाषण किया। डॉ. रघुवीर और माननीय पं. द्वारका प्रसाद मिश्र के भाषणों का सारांश यह था कि राष्ट्रभाषा

हिन्दी में जो नये पारिभाषिक शब्द बनाये या गढ़े जायेंगे, उनकी मूल भित्ति संस्कृत भाषा ही हो सकती है। . . . संस्कृत के स्रोत से लिये गये नूतन शब्द ही व्यापक प्रसार पा सकेंगे और आवश्यक शब्दों की सृष्टि के लिए संस्कृत के शब्द-भंडार को ही उद्‌गम-स्थान मानना भारतीय प्रकृति एवं संस्कृति के अनुकूल होगा। . . ."

शिवजी ने कॉलेज से लंबा अवकाश ले लिया और अंतिम रूप से छपरा छोड़कर पटना चले आये। 'राजेंद्र अभिनंदन ग्रंथ', जिसका संपादन वे पिछले तीन वर्षों से कर रहे थे, वह अंततः प्रकाशित होकर आरा नागरी प्रचारिणी सभा के विशेष महोत्सव में मार्च, 1950 में पूज्य राजेंद्र बाबू को समर्पित हुआ। इसी माह में अशोक प्रेस से 'नई धारा' का प्रथमांक और अजंता प्रेस से 'चुन्नु-मुन्नू' का प्रथमांक – दोनों ही बेनीपुरी के संपादन में प्रकाशित हुए थे। दोनों ही मासिकों का प्रकाशन हिन्दी-जगत में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी, और इन दोनों ही पत्रों से शिवजी भी जुड़े थे। 'नई धारा' के लिए 'मतवाला'-मंडल के संस्मरण और 'चुन्नू-मुन्नू' के लिए अपने बचपन के संस्मरण उन्होंने इन्हीं दिनों लिखे थे।

जुलाई, 1950 में शिवजी ने राजेंद्र कॉलेज को अपना त्यागपत्र भेज दिया और परिषद के मंत्री-पद का कार्यभार ग्रहण कर लिया। परिषद की स्थापना बिहार सरकार ने उत्तर प्रदेश की हिंदुस्तानी अकादेमी, प्रयाग के नमूने पर करने का प्रस्ताव 1947 में ही किया था, यद्यपि आगे चलकर परिषद के स्वरूप तथा उद्देश्यों को और व्यापक बनाया गया, और अंततः शिवजी की नियुक्ति के बाद इसका कार्य बड़ी क्षिप्रता से चलने लगा। प्रारंभ में परिषद का कार्यालय सिन्हा लाइब्रेरी में रहा किन्तु कुछ ही महीनों बाद वह बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन में चला गया और शिवजी के पूरे कार्यकाल में वहीं स्थित रहा। शिवजी भी अपने कार्यकाल के प्रारंभ के कुछ महीनों तथा अंतिम वर्ष को छोड़कर बराबर सपरिवार संम्मेलन-भवन में ही रहे। सम्मेलन-भवन के पिछवाड़े दो कमरों में उनका परिवार रहता था और स्वयं शिवजी सम्मेलन के दक्षिणी बरामदे में रहते थे। वहीं उनका शयन-कक्ष, बैठक, भोजन-कक्ष सब कुछ था। परिषद कार्यालय भवन की पहली मंज़िल पर था, जिसकी निकटता उनके लिए जितनी सुविधाजनक थी उससे अधिक असुविधाजनक भी थी। सम्मेलन-भवन में यों भी लोगों का आना-जाना बराबर लगा रहता था, और वहीं रहते हुए — और उसके खुले बरामदे में रहने के कारण और भी—शिवजी सर्व-सुलभ हुआ करते थे। वहाँ रहते हुए सोते-बैठते, नहाते-खाते, कोई भी उनसे मिल सकता था और यह मुलाकात कितनी लंबी होती अक्सर इसका निर्णय मुलाकाती ही करता था। रविवारों और छुट्टी के दिनों में तो यह सिलसिला और भी घना हो जाता था, और शिवजी के लिए अपना कोई भी काम करना प्रायः असंभव होता था। सुबह से देर रात तक चलने वाले इन अनवरत मुलाकातों के बीच से बचे कुछ अवकाश

के क्षणों में ही शिवजी का कुछ लेखन-कार्य हो पाता। मुलाकातों का यह क्रम उनके कार्यालय-कक्ष में तो और भी बढ़ जाता था।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद का कार्यक्षेत्र प्रारंभ से ही काफी विस्तृत रहा। विभिन्न विषयों पर हिन्दी में उच्चकोटि के मानक ग्रंथों का प्रकाशन, क्षेत्रीय बोलियों एवं उप-भाषाओं की साहित्यिक संपदा तथा लोक-साहित्य का संकलन, संरक्षण तथा प्रकाशन, तत्संबंधी अनुसंधान, सुविख्यात विद्वानों के व्याख्यानों का आयोजन, श्रेष्ठ कृतिकारों को प्रोत्साहन पुरस्कार एवं वयोवृद्ध साहित्यकारों का सम्मान, आदि विविध कार्यक्रम पहले वर्ष से ही चलने लगे। परिषद का उद्‌घाटन महोत्सव मार्च, 1951 में संपन्न हुआ जिसमें बिहार के वयोवृद्ध साहित्यकार व्रजनंदन सहाय 'व्रजवल्लभ' को उनकी दीर्घकालीन एवं महत्त्वपूर्ण हिन्दी-सेवा के लिए सम्मानित किया गया। बिहार के तत्कालीन राज्यपाल माधव श्रीहरि अणे ने समारोह का उद्‌घाटन किया था, तथा हिन्दी और अहिन्दी-भाषी क्षेत्र के अनेक विद्वान इस महोत्सव में उपस्थित हुए थे। इनमें भारतीय वाङ्मय दिग्दर्शन के क्रम में संस्कृत, गुजराती, मराठी, उत्कल, तेलुगु, बंगला और उर्दू भाषाओं के विद्वान प्रतिनिधियों के भाषण हुए थे। शांतिनिकेतन के आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने संदेश में कहा था—"बहुत ही हर्ष का विषय है कि बिहार-राज्य ने साहित्यकारों की अभिवृद्धि के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद की स्थापना की है। राज्य का यह प्रयत्न अनुकरणीय और सराहनीय है। आप-जैसे अनुभवशील और तपस्वी साहित्यकार की देख-रेख में परिषद उत्तरोत्तर विकसित होती जायगी—इसमें संदेह नहीं"।

शिवजी के कार्यकाल में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद का कार्य कितना व्यापक, महत्त्वपूर्ण एवं गरिमामय रहा इसका सम्यक् विवेचन तो ग्रंथाकार ही संभव है, पर निस्संदेह यह शिवजी की हिन्दी-सेवा का सर्वोत्कृष्ट प्रतिमान था। शिवजी जुलाई, 1950 से अगस्त, 1959 तक परिषद में रहे - प्रथम चरण में मार्च, 1956 तक मंत्री-पद पर तथा तदनंतर निदेशक के रूप में। उनके कार्यकाल में परिषद के सात वार्षिकोत्सव हुए जिनमें सभापति-पद को सुशोभित करने वाले व्यक्तियों में आचार्य नरेंद्रदेव, डॉ. संपूर्णानंद, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. धीरेंद्र वर्मा आदि रहे, वयोवृद्ध साहित्यिक सम्मान-पुरस्कार प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों में व्रजनंदन सहाय 'व्रजवल्लभ', पं. रामदहिन मिश्र, रघुवीर नारायण आदि प्रमुख थे। परिषद के संचालक-मंडल के निर्णयानुसार उसके चतुर्थ वार्षिकोत्सव (अप्रैल, 1954) में स्वयं शिवपूजन सहाय को आचार्य नरेंद्रदेव द्वारा यह वयोवृद्ध साहित्यिक सम्मान पुरस्कार प्रदान किया गया। उसी वार्षिकोत्सव में डॉ. राजेंद्र प्रसाद को भी उनकी 'आत्मकथा' पर सम्मान-पुरस्कार प्रदान किया गया। राजेंद्र बाबू ने यह पुरस्कार राशि परिषद को ही उपर्युक्त साहित्यिक प्रयोजन के लिए अपनी ओर से उतनी ही राशि के साथ लौटा दी। बाद में बिहार

सरकार ने उस राशि को अभिवृद्ध करके उससे राजेंद्र निधि नामक साहित्यकार कल्याण कोष की स्थापना की। शिवजी ने भी डेढ़ हज़ार की राशि में पाँच सौ अपनी ओर से मिलाकर बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन को दिया कि उस राशि के ब्याज से सम्मेलन उनकी पत्नी की स्मृति में 'बच्चनदेवी साहित्य गोष्ठी' का नियमित आयोजन किया करे। इस गोष्ठी का उद्घाटन 1954 में 4 जुलाई को राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने किया था, और कालांतर में इस गोष्ठी में राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वानों के भाषण हुए जिनमें कुछ विशिष्ट नाम थे—महापंडित राहुल सांकृत्यायन, किशोरीदास वाजपेयी, प्रभाकर माचवे, बालकृष्ण शर्मा नवीन, चतुरसेन शास्त्री, उदयशंकर भट्ट, चार्ल्स नेपियर, ओदोलेन स्मेकल, प्रो. मेकग्रेगर, जैनेंद्र कुमार, विद्यानिवास मिश्र, नगेंद्र आदि। शिवजी के जीवनकाल में और उसके बाद भी यह गोष्ठी अत्यंत सफलतापूर्वक चलती रही।

वास्तव में 1950-60 के पूरे दशक में पटना बिहार की साहित्यिक गतिविधियों का गौरवशाली केन्द्र बना रहा जिसकी ओर संपूर्ण हिन्दी-जगत का ध्यान आकृष्ट रहा। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन एवं बिहार राष्ट्रभाषा परिषद का एक ही परिसर में एक पूरे दशक-भर अवस्थित रहना–और इस सम्मिलन में आचार्यद्वय शिवपूजन सहाय तथा नलिनविलोचन शर्मा की महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्णायक भूमिका–सचमुच बिहार में हिन्दी साहित्य के उन्नयन का एक महत्त्वपूर्ण चरण रहा। हिन्दी की दो सर्वोच्च संस्थाओं की सहगामिता के साथ-साथ हिन्दी के दो आचार्यों की सहभागिता का ही सुफल था 'साहित्य' नामक त्रैमासिक शोध-पत्र। इसका प्रथमांक मार्च, 1950 में निकला था, यद्यपि इससे पूर्व, 1936-38 के बीच भी, 'साहित्य' की प्रथम शृंखला के कुछ अंक पं. जनार्दन झा द्विज, और सुधांशुजी तथा फिर आचार्य बदरीनाथ वर्मा के संपादकत्व में निकल चुके थे। मार्च, 1950 से जुलाई, 1961 तक, लगातार बारह वर्षों तक, शिवजी और नलिनजी के संयुक्त संपादन में साहित्य का अनवरुद्ध प्रकाशन होता रहा। "शिवजी और नलिनजी के संयुक्त संपादन में प्रकाशित 'साहित्य' ने हिन्दी साहित्येतिहास, पत्रकारिता तथा पात्रिक परंपरा में उल्लेखनीय भूमिका निभाई। . . . 'सरस्वती' के बाद किसी पत्रिका की प्रतिष्ठा और प्रतीक्षाकुल पाठकता सर्वोपरि थी तो 'साहित्य' की ही, ऐसा कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी" ('साहित्य', संपादकीय, मई, 1993)। सितंबर, 1961 में नलिनजी के आकस्मिक निधन के बाद 'साहित्य' की यह शोध-समृद्ध गौरवशाली शृंखला अचानक छिन्न हो गई। 'साहित्य' का शिवजी-संपादित अंतिम अंक 'नलिन स्मृति अंक' (अक्तूबर, 1961) हुआ, जो शिवजी के अथक परिश्रम के बाद काफी विलंब से नवंबर, 1962 में छपकर निकला। इसकी करुणा-सिक्त संपादकीय टिप्पणी में शिवजी ने लिखा — "उनके ऋषिकल्प पिता अपने युग के संस्कृतज्ञ पंडितों द्वारा वृहस्पति-तुल्य विद्वान माने जाते थे। प्रायः प्रतिदिन

संध्या समय उनके आगे विद्वत्सभा बैठती थी। हम अपने साहित्यिक गुरु पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा, प्रो. अक्षयवट मिश्र और पं. रामदहिन मिश्र के साथ अनेक बार उस दरबार में गये थे। महामहोपाध्याय पं. रघुनंदन त्रिपाठी, पं. विजयानंद त्रिपाठी, पं. देवदत्त त्रिपाठी आदि उस दरबार के प्रतिष्ठित सदस्य थे। इन धुरंधर पंडितों की गोद में जिन नलिनजी को बालक के रूप में देखा था, उन्हीं की अर्थी में कंधा भी लगाना पड़ा !" इस मार्मिक प्रसंग की चर्चा शिवजी ने नलिनजी पर लिखे अपने संस्मरण में भी की है :

"एक दिन बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अनुशीलन-कक्ष में हम दोनों बैठे थे। उन्होंने सहसा कहा कि 'साहित्य' के संपादकीय स्तंभ में स्वर्गीय साहित्य-सेवियों पर लिखी आपकी संस्मरणात्मक टिप्पणियाँ मुझे बहुत पसंद हैं। मैंने कहा कि आपकी पसंद ही उनकी सार्थकता है; किन्तु मेरे निधन पर आपको भी वैसी ही टिप्पणी लिखनी पड़ेगी। छूटते ही बोल उठे कि कहीं आपको ही मेरे लिए लिखना पड़ गया तो आपकी अभ्यस्त लेखनी मुझसे बाज़ी मार ले जाएगी। इस पर उस दिन तो हम दोनों के अट्टहास से कक्ष मुखरित हो गया, परंतु आज उस बात की स्मृति का वृश्चिक-दंशन हृदय को बड़ा ही व्यथित कर रहा है।"

नलिनजी के निधन के महीने-भर बाद ही निरालाजी का शरीरांत हो गया था, और उसी अंक की दूसरी टिप्पणी में शिवजी ने लिखा — "हमारा ऐसा दुर्भाग्य हुआ कि दोनों एक साथ ही हमें मर्माहत कर गये। इस तरह से दोहरे आघात को झेलकर भी हम इन पंक्तियों को लिखने के लिए विद्यमान हैं, यह हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। जो हमारे विषय में लिखनेवाले थे, उनके विषय में हमें ही लिखना पड़ा, यह विधाता का व्यंग्य बड़ा मर्मवेधी है। निरालाजी भी हमसे पाँच वर्ष छोटे थे; पर उन्हें ज्ञानवृद्ध मानकर हम श्रद्धास्पद ही समझते रहे। उनके अनेक संस्मरण लिखने पर भी जी न भरा। आज श्रद्धांजलि अर्पित करते समय मन व्यथित हो रहा है।"

हिन्दी-सेवियों के महाप्रस्थान का यह क्रम पिछले कई वर्षों से चल रहा था, और 1958 से तो इसका एक तांता-सा बंध गया था। दिवंगत हिन्दी-सेवियों पर शिवजी की इन संस्मरणात्मक टिप्पणियों को ही नलिनजी ने इंगित किया था, और निश्चय ही अपने जीवन की सांध्यवेला में साहित्यसेवियों की महायात्रा के इस क्रूर सातत्य का शिवजी के मन-प्राण पर गहरा असर हुआ था।

शिवजी का स्वास्थ्य 1950 के बाद निरंतर गिरता जा रहा था। लड़कियाँ अपने-अपने ससुराल चली गई थीं। बहू गाँव-घर सम्हालने के लिए वहाँ रहती थी। बड़ा लड़का भी दूसरी जगह हॉस्टल में रहकर कॉलेज की पढ़ाई कर रहा था। साथ केवल छोटा लड़का रहता था जो अभी स्कूल में पढ़ रहा था। छपरा का बसा डेरा

तोड़कर शिवजी पटना आ गये थे जहाँ उन्हें जैसे-तैसे रहकर परिषद जैसी नई सरकारी संस्था का गठन करना था, और साथ ही लेखन-संपादन आदि के श्रमसाध्य दायित्वों को भी निभाना था। 'साहित्य' का संपादन, 'राजेंद्र अभिनंदन ग्रंथ' का संशोधन—संपादन, बीच-बीच में समय मिलने पर अपना लेखन, बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संगठनात्मक कार्यों में निरंतर योगदान, अन्यान्य साहित्यिक गतिविधियों से संबद्धता-इन सबके कारण पटना में अत्यधिक व्यस्तता हो गई थी, और न भोजन की निश्चिंतता थी, न आवास की निश्चिंतता। शुरू में कुछ दिन सम्मेलन-भवन में सीढ़ी के नीचे एक तंग कमरे में रहना पड़ा, कुछ दिन हिंदुस्तानी प्रेस की अतिथिशाला में रहकर 'राजेंद्र अभिनंदन ग्रंथ' का संपादन करते रहे, फिर सम्मेलन के उसी कमरे में वापस हुए, 1951 के प्रारंभ में कुछ महीने मछुआटोली मुहल्ले में एक किराये का मकान लेकर रहे, फिर सात-आठ महीने सरकारी क्वार्टर में रहे, और अंततः 1952 के प्रारंभ से पुनः सम्मेलन-भवन में आकर रहने लगे। सम्मेलन-भवन के पिछवाड़े दो कमरों का एक छोटा-सा किता था जो सम्मेलन की ओर से शिवजी को किराये पर मिल गया, जहाँ धीरे-धीरे एक कामचलाऊ गृहस्थी बस गई। परिषद का कार्यालय भी सम्मेलन-भवन के ही ऊपरी हिस्से में किराये पर आ चुका था, और उसी परिसर में आवास होने से शिवजी को कुछ सुविधा हो गई थी। पर वर्षों के असंयमित जीवन, कुपोषित स्वास्थ्य और अत्यधिक श्रम के कारण शरीर अब लच गया था। मधुमेह और मोतियाबिंद ने अवसर पाकर उसमें अपना डेरा डाल दिया।

पहली बार 1952 की 19 जुलाई को शिवजी के मुँह से खून गिरा। प्रसिद्ध डॉक्टर ए.के. सेन ने पूरी जाँच की, एक्सरे लिया गया और पाया गया कि दोनों ही फेफड़ों में क्षय का असर हो चुका था। डॉक्टर सेन ने–जिनकी चिकित्सा में ही शिवजी फिर बराबर रहे--पूर्ण शय्या-विश्राम की सलाह दी, और शिवजी को उनके बड़े जमाता, श्री वीरेंद्र नारायण, अपने डेरे में ले गये, जहाँ बड़ी बेटी सरोज और उसके परिवार की सेवा-सुश्रूषा और देखरेख में शिवजी को पाँच महीने रहना पड़ा। कुछ स्वस्थ होने पर वे फिर सम्मेलन-भवन लौट आये, पर वहाँ भी उन पर काफ़ी डाक्टरी पाबंदी बनी रहीं। अब नियमित रूप से उन्हें इंसुलिन लेनी पड़ती और काफ़ी दवा-परहेज़ के साथ रहना पड़ता। शैय्या पर लेटे-लेटे ही उन्हें परिषद का सारा काम करना पड़ता। कुछ स्वास्थ्य-लाभ होने पर वे सम्मेलन के अनुशीलन विभाग में बैठकर परिषद का काम करते, और परिषद के दूसरे वार्षिकोत्सव की तैयारी कराते। शरीर अभी पूरी तरह रोगमुक्त नहीं हुआ था और इस परिश्रम के कारण वे पुनः शय्याग्रस्त हो गये। इसी बीच गाँव पर उनकी पुत्रवधू को टाइफायड हुआ और वह चल बसी। इस शोक-समाचार का उन पर घातक असर हुआ—"चंदा के देहांत का शोक-संवाद आया। पटना के यक्ष्माकेंद्र चिकित्सालय में ऊपर के कमरे में पहले-पहल आज मैं ही भरती हुआ। बहुत रक्त गिरा।" (डायरी : 16.4.53)।

पुत्रवधू चंदा (मुंशी नवजादिक लाल की तृतीय पुत्री) की मृत्यु शिवजी के लिए सबसे गंभीर पारिवारिक त्रासदी थी। गाँव की गृहस्थी पर तो इसका अगले कई वर्षों तक असर रहा ही — और गाँव पर ही चूंकि शिवजी के जीवन-भर का साहित्यिक संग्रह सुरक्षित था, इसलिए भी गाँव की गृहस्थी का चरमराना उनके लिए सबसे बड़ी चिंता का विषय था — शिवजी के लिए इससे गंभीर पारिवारिक संकट उपस्थित हो गया। उनके क्षयरोग ने एकाएक भयंकर रूप धारण कर लिया और अप्रैल, '53 से फरवरी, '54 तक, पूरे ग्यारह महीने शिवजी यक्ष्माकेन्द्र के अस्पताल में जीवन और मृत्यु के बीच झूलते रहे। बिस्तर पर करवट बदलना भी उनके लिए मना था। लेकिन वहाँ भी अपनी डायरी और कलम सिरहाने छिपाकर रखते, और आँख बचाकर रात की निस्तब्धता में दो-चार शब्द टांक लेते।

"अप्रैल 17 : लिखना असंभव। 18 : अत्यंत अशक्त। 19 : मुंह से रक्त कम आया। 20 : लिखना कठिन। 21 : कमजोरी की हद। 24 : रह रहकर मन डूबता है। 25 : खून बंद हुआ। 26 : दो चार शब्द लिखने में भी असमर्थ। 27 : कभी अचेत नहीं हुआ। 28 : दिमाग ठीक है बराबर होश रहता है। मई 1 : थूक में खून अभी तक। 5 : पलक खोलने और ताकने में भी कुछ कष्ट। 6 : कमजोरी घटती नहीं। . . ."

गंभीर रूप से बीमार होते हुए भी शिवजी को एक राहत यह मिली कि आगंतुकों और मिलनेवालों का आना लगभग बंद रहा। यक्ष्माकेंद्र में यों भी मिलने-जुलने की ज्यादा सख़्त मनाही थी। धीरे-धीरे शिवजी का स्वास्थ्य सुधरने लगा। दिसंबर, 1953 की आखिरी तारीख को शिवजी ने अपनी डायरी में अंकित किया — "फेफड़े के रोग की दवाएँ और सुइयाँ बंद हो गई। ईश्वर की कृपा हुई। क्षय रोग और बुढ़ापा, दोनों निराशाप्रद। किन्तु भगवत्कृपा की महिमा अमोघ है। गोपद सिंधु अनल सितलाई का स्मरण हो आया। क्षय-रूपी अजगर के मुँह में से भगवान ने अपने हाथों खींच निकाला। बड़ी लंबी बाँह है भगवान की। सांपों और बिच्छुओं से भरे अंधकूप में से भगवान ने मुझे सकुशल निकाल लिया।"

फरवरी, 1954 में शिवजी यक्ष्माकेंद्र से वापस सम्मेलन-भवन आ गये। लेकिन वे जून तक छुट्टी पर ही रहे। इस अवधि में परिषद के स्थानापन्न मंत्री के रूप में प्रसिद्ध विद्वान एवं शिक्षाविद् डॉ. धर्मेंद्र ब्रह्मचारी शास्त्री कार्यभार सम्हाल रहे थे। इसी अवधि में परिषद् के संचालक मंडल ने यह निर्णय लिया कि शिवजी की समस्त रचनाओं को ग्रंथावली-रूप में परिषद् की ओर से प्रकाशित किया जाये और उसकी अग्रिम रायल्टी-राशि के रूप में 5,000 रुपये उन्हें उनके इलाज़ के ख़र्च के लिए दिये जायें। कुछ बाद फिर यह भी निर्णय लिया गया कि शिवजी के चिंतनीय स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए परिषद की ओर से उन्हें वयोवृद्ध साहित्यकार पुरस्कार के

रुप में 1500 रुपये की राशि दी जाये। अग्रिम राशि के पाँच हजार तो उन्हें जनवरी, 1954 में ही मिल गये थे। परन्तु वयोवृद्ध साहित्यकार पुरस्कार के डेढ़ हजार शिवजी को परिषद् के तृतीय वार्षिकोत्सव में आचार्य नरेंद्रदेव के हाथों मिले थे जिससे उनकी दिवंगता पत्नी श्रीमती बच्चनदेवी की स्मृति में "बच्चनदेवी साहित्य गोष्ठी" की स्थापना हुई थी।

उपयुक्त चिकित्सा और कठोर संयम-परहेज के कारण ही शिवजी का स्वास्थ्य अब काफी सुधर चुका था और जुलाई, 1954 से उन्होंने परिषद का अपना कार्यभार सम्भाल लिया। इसी बीच उनके बड़े लड़के का दूसरा विवाह काशी में हो चुका था। इस विवाह में काशी के सभी प्रमुख पुराने साहित्यिक सम्मिलित हुए थे — पराड़करजी, रायकृष्णदासजी, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. राजबली पांडेय, पं. चंद्रबली पांडेय, प्रो. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, रामचंद्र वर्मा, लक्ष्मीशंकर व्यास, वाचस्पति पाठक, पारसनाथ सिंह, वेणीराम 'श्रीमाली', देवनारायण द्विवेदी आदि। नई पुत्रवधू के आ जाने से गृहस्थी की गाड़ी फिर धीरे-धीरे पटरी पर चलने लगी और इस निश्चिंतता का शिवजी के स्वास्थ्य-सुधार पर भी अच्छा असर हुआ। कुल मिलाकर अगले दो-तीन साल शिवजी के लिए अपेक्षया सुख-शांति से बीते। परिषद का कार्य भी बड़ी क्षिप्रता से आगे बढ़ रहा था ; 1955 से '57 के बीच तीन और वार्षिकोत्सव हुए; लगभग 25 महत्त्वपूर्ण ग्रंथ परिषद से अब तक प्रकाशित हो चुके थे जिनमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का 'हर्षचरित', डॉ. मोतीचंद्र का 'सार्थवाह', आचार्य नरेंद्र देव का 'बौद्धधर्म-दर्शन' और राहुल सांकृत्यायन-रचित 'मध्यएसिया का इतिहास' जैसे उत्तमोत्तम ग्रंथ थे। इसके अलावा भी अनेक वयोवृद्ध एवं रचनाशील, नवोदित साहित्यकार लेखक-कवि पुरस्कृत-सम्मानित हुए थे, महत्त्वपूर्ण विद्वानों की भाषणमालाएँ आयोजित हुई थीं, साहित्यिक संस्थाओं को आर्थिक अनुदान वितरित हुए थे, अनेक प्रकार की महत्त्वपूर्ण शोध-योजनाएं चलाई जा रहीं थीं। वस्तुतः शिवजी के कार्यकाल के आठ-नौ वर्षों में परिषद में जिस परिमाण में महत्त्वपूर्ण कार्य हुए उनका आकलन इतने संक्षिप्त विवरण से संभव नहीं।

'शिवपूजन रचनावली' के चार खंड भी 1956 में '59 के बीच प्रकाशित हुए थे। इन चार खंडों में शिवजी की तब तक की प्रकाशित सभी पुस्तकें, साहित्यिक भाषण एवं निबंध, संस्मरण तथा साहित्यिक अग्रलेख और टिप्पणियाँ संकलित की गई थीं। एक निश्चित समय-सीमा में प्रकाशन का कार्य पूरा होना था इसलिए अनेक रचनाएं संकलित होने से रह गईं, और जो संकलित हुईं भी उनका मनोनुकूल संशोधन-संपादन शिवजी स्वयं नहीं कर सके। छूटनेवाली सामग्री में सबसे महत्त्वपूर्ण थीं 'जागरण' तथा 'मतवाला' की व्यंग्य-टिप्पणियाँ और 'मतवाला' के अग्रलेख। यह एक विडंबना ही थी कि जिस व्यक्ति ने अनेक साहित्य-महारथियों की श्रेष्ठतम कृतियों

का संशोधन-संपादन किया था, उसे स्वयं अपनी रचनाओं का संशोधन-संपादन करने का समय नहीं मिल पा रहा था। पिछले चार दशकों में फैले विशाल रचना-संसार को इतने कम समय और पृष्ठों में सुसंपादित रूप में समेट लेना किसी प्रकार संभव न था। परिणामतः 'शिवपूजन रचनावली' के चार खंड शिवजी के रचना-संसार को न केवल उसकी अपूर्णता में प्रस्तुत करते हैं, वरन उनका संशोधन-संपादन भी शिवजी की मान्यताओं के अनुरूप नहीं हो पाया है। इसका एक कारण यह भी था कि अपनी अस्वस्थता के कारण उन दिनों शिवजी 'रचनावली' के मुद्रण के समय उसका सम्यक् संपादन करने में असमर्थ थे, और प्रूफ पढ़ने का काम भी सहायकों से लेना पड़ता था। 'रचनावली' के तीसरे खंड के अपने वक्तव्य में शिवजी ने लिखा –

"खेद है हमारी अनेक प्रारंभिक रचनाएं मिली ही नहीं। . . . समयाभाव के कारण सबको हम दुबारा पढ़ नहीं सके, इसलिए जहाँ-तहाँ फालतू बातों का रह जाना संभव है। . . . इन रचनाओं को दो-दो बार लिपिबद्ध और मुद्रित होना पड़ा है, इसलिए असली रूप कुछ विकृत हो गया हो तो आश्चर्य नहीं। . . . हम इनके निरीक्षण-परीक्षण के निमित्त पर्याप्त अवकाश नहीं पा सके। . . . कई लेख मिले ही नहीं। खोज का काम अभी जारी है।"

'रचनावली' का चौथा और अंतिम खंड जुलाई, 1959 में छपा था जिसके तुरन्त बाद शिवजी को आकस्मिक सरकारी आदेश से, बिना विधिवत पूर्व-सूचना के, सेवा-निवृत्त कर दिया गया था। इस खंड के वक्तव्य में शिवजी ने स्पष्ट लिखा– "यह चौथा खंड ही अंतिम खंड है। हमारी सभी रचनाओं के संग्रहों को प्रकाशित करने के लिए बिहार सरकार से परिषद को जो अतिरिक्त धनराशि मिली थी, वह इसी खंड के साथ समाप्त हो गई। जो रचनाएँ समय पर मिल सकीं, वे सभी प्रकाशित हो गईं। बहुत-सी रचनाएँ खोज करने पर भी न मिलीं और अनेक रचनाएँ, जो कल्पित नाम से या दूसरों के नाम से छपी थीं, वे संग्रह में सम्मिलित नहीं की गईं।"

सेवा-निवृत्त होने के बाद शिवजी ने अपनी डायरी में लिखा — "मेरी रचनाएँ चार भागों में परिषद से निकली हैं। . . . मेरे बहुत-से उत्तम लेखों का पता नहीं लगता। अब उनका शीर्षक-मात्र स्मरण रहा, वह पत्र-पत्रिका स्मरण नहीं जहाँ वे छपे थे। कुछ याद भी है तो वह दुर्लभ है। सभी छोटी-बड़ी रचनाएँ छपें तो रचनावली के कई खंड निकाले जा सकते हैं।" (24.9./27.12.58)।

शिवजी जब राजेंद्र कॉलेज छोड़कर परिषद में आये थे उस समय उसका मंत्रीपद द्वितीय वर्ग का सरकारी पद था जो फरवरी, 1956 में प्रथम वर्ग का संचालक का पद बनाया गया। जुलाई में इसकी विधिवत सूचना भी मिल गई, किन्तु यह केवल तीन साल की अनुबंधित सरकारी सेवा थी जिसे 31 अगस्त, 1959 को समाप्त होना

था। शर्तनामे के अनुसार समाप्ति के छः मास पूर्व सरकार के लिए लाज़िमी था कि वह शिवजी को बाज़ाप्ता नोटिस देती, और शिवजी को भी अपनी ओर से उसी प्रकार छः महीने पूर्व सरकार को नोटिस देनी थी। सरकार की ओर से शर्तनामे के अनुसार कोई नोटिस शिवजी को आख़िर तक नहीं दी गई, हालाँकि शिवजी ने अपनी ओर से छः महीने पहले सरकार को नोटिस भेज दी थी। प्रथम वर्ग की सरकारी सेवा में शिवजी को प्रोन्नत करने के बजाय सरकार ने उन्हें तीन साल की अनुबंधित सेवा में पुनर्नियुक्त किया था, जिस कारण सितंबर, 1959 में जब उन्हें अचानक सेवा-निवृत्त किया गया, तब वे सरकारी पेंशन से वंचित रह गये। यह सब कुछ एक सुनियोजित षड्यंत्र के तहत हुआ था, जिसे लेकर उस समय अखबारों में काफी गर्म चर्चा हुई थी। शिवजी को सभी ने राय दी कि वे सरकार द्वारा शर्तनामे के उल्लंघन का लाभ उठाकर कार्यभार न छोड़ें, पर ऐसा करना शिवजी के स्वाभिमान और शील के सर्वथा विपरीत था। वे आहत अवश्य थे पर अपनी आस्था और मर्यादा का परित्याग उनके लिए असंभव था। अपने मन के भाव उन्होंने अपनी डायरी में ही अंकित किये —

"आज परिषद की सेवा का समय पूरा हो गया। किन्तु सरकारी आदेशपत्र आज संध्या-पर्यंत नहीं आया। ठीका-पत्र में स्पष्ट लिखा है कि सरकार मुझे छः मास पूर्व ही सूचना देगी। मैंने छः मास पूर्व ही सरकार को स्मरण करा दिया था। पर आज तक सरकार मौन रही। आज चार बजे अपराह्न में अवर सचिव श्री गजेंद्र नारायणजी का फ़ोन आया कि कार्यभार सौंप दीजिए। मैं तो कार्यमुक्त होने को अत्यंत उत्सुक था और मन में निश्चय कर रहा था कि कार्यभार सौंपने को सर्वथा तैयार हूँ। परिषद के सभी कार्यकर्ताओं ने एक स्वर से अनुरोध किया कि ठीकापत्र में लिखी हुई सरकारी शर्त्त का लाभ उठाना चाहिए। . . . परन्तु अंतरात्मा ने बार-बार प्रेरित किया कि 'इस घोर अन्याय को शिरोधार्य करने से ही तुम्हारा कल्याण होगा'। . . . परिषद से सहसा कार्यमुक्त होने पर आनंद के साथ मन में कभी-कभी रागद्वेष, कुत्सा, अमर्ष आदि विकार भी उत्पन्न हुए। किन्तु मैं राम-नाम-सुमिरन करके दूषित मनोविकारों को शांत करने का प्रयत्न करता हूँ। रागद्वेष उनके प्रति होता है जिनके विषय में विश्वस्त सूत्र से पता चला कि मुझे अनादर के साथ बहिष्कृत कराने में उनकी चाटुकारिता सफल हुई है। फिर ग्लानि हुई कि राजेंद्र कॉलेज छोड़कर व्यर्थ ही आया। कुत्सा और अमर्ष सरकारी शिक्षाविभागाधिकारी के प्रति हुआ जिनके अवैधानिक और अनियमित कार्य से बिहार सरकार की अपकीर्ति फैलेगी। मन कहता है कि परिषद में मत जाओ ; किन्तु अंतरात्मा समझाती है कि साहित्यिक इतिहास का काम अधूरा छोड़ने से हिन्दी-हित-हानि होगी।" (डायरी, 31.8-4.9.59)।

बिहार के साहित्यिक इतिहास का काम शिवजी के लिए जीवन-पर्यंत सार्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य रहा। इस कार्य की प्रेरणा सबसे पहले उनके साहित्यिक गुरु पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने उन्हें दी थी और आरा नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से 'बिहार के हिन्दी साहित्य का सर्वांगपूर्ण इतिहास' की रचना के लिए बिहार के साहित्य-सेवियों से सामग्री-संग्रहार्थ एक अपील सर्वप्रथम 1919 में जारी की गई थी जिसपर शिवपूजन सहाय और शुकदेव सिंह (सभा के पुस्तकालयाध्यक्ष) के हस्ताक्षर थे। इस अपील के साथ एक प्रोफॉर्मा भी संलग्न था जिसमें सूचनाएँ भरकर भेजनी थीं। इस सत्प्रयास का आशातीत स्वागत हुआ और काफी सामग्री एकत्रित हुई, किन्तु दुर्भाग्यवश यह सारी सामग्री लखनऊ में ग़ायब हो गई जब शिवजी वहाँ से दंगे में जान बचाकर भागे। जब शिवजी फिर 'बालक' का संपादन करने लगे तब काशी और लहेरियासराय में रहते हुए बेनीपुरी, रामधारी प्रसाद, गंगाशरण सिंह और 'नटवर' के सहयोग से दुबारा इस योजना के संग्रह-कार्य में लगे और 'बालक' तथा बेनीपुरी-संपादित 'युवक' में फिर अपीलें छपीं। एक बार फिर काफी सामग्री का संग्रह हुआ पर 1934 के भूकंप में दरभंगा में वह सामग्री दुबारा लुप्त हो गई। किन्तु इन बाधाओं के बावजूद शिवजी निष्ठापूर्वक इस काम में लगे रहे और तिबारा जो सामग्री संगृहीत हुई उसका उपयोग शिवजी-द्वारा संपादित पुस्तक-भंडार के 'जयंती-स्मारक-ग्रंथ' में प्रकाशित हुआ जिसमें बिहार के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक वैभव का एक अभिनव विश्वकोष उपलब्ध है।

जब शिवजी परिषद के अधिकारी नियुक्त हुए तब एक बार फिर उन्होंने 'साहित्य' में, जिसका अब वे संपादन कर रहे थे, अपनी अपील प्रकाशित की। साथ ही उन्होंने परिषद के संचालक मंडल से लिखित प्रार्थना की :

'मैंने पिछले तीस वर्षों से बिहार के साहित्यिक इतिहास की सामग्री संकलित की है, जो अभी अस्तव्यस्त रूप में पड़ी हुई है। किन्तु उसे सुव्यवस्थित रूप देकर प्रकाशित किये बिना बिहार का साहित्यिक गौरव अंधकार में ही पड़ा रहेगा। मैं चाहता हूँ कि परिषद यदि मुझे आदेश देने की कृपा करे तो मैं उसे अपनी देखरेख में क्रमबद्ध करके ग्रंथ का रूप दे दूँ और समय आने पर परिषद उसके प्रकाशन के संबंध में यथोचित विचार करे" ('हिं. सा. और बिहार', खंड 1)।

संचालक मंडल ने 25.7.51 की अपनी बैठक में शिवजी का यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया और उसके बाद से सुनियोजित ढंग से संस्थागत स्तर पर यह कार्य चलने लगा, यद्यपि बीच-बीच में फिर भी बाधाएँ आती रहीं — जिसमें सबसे बड़ी बाधा शिवजी के स्वास्थ्य को लेकर ही थी — पर, अंततः 'हिन्दी साहित्य और बिहार' नाम से ग्रंथ का पहला खंड शिवजी के सेवा-निवृत्त होने के ठीक पहले प्रकाशित हो गया।

शिवजी की डायरियां जबसे उपलब्ध हैं,* उनमें बराबर बिहार के साहित्यिक इतिहास के लेखन के प्रति शिवजी के मन का समर्पण-भाव और उनकी चिंता अभिव्यक्त होती रही है। पर जीवन के अंतिम वर्षों में यह चिंता शारीरिक अस्वस्थता और कई प्रकार की कठिनाइयों के कारण अत्यधिक घनीभूत होती गई। सेवा-निवृत्ति से पूर्व 'हिन्दी साहित्य और बिहार' का केवल पहला खंड छप सका था। इसमें प्रारंभ से अठारहवीं शती तक का विवरण संगृहीत था। उनीसवीं शती पूर्वार्द्ध की सामग्री दूसरे खंड में जानी थी। उत्तरार्द्ध के पुनः दो खंड प्रस्तावित थे — पूर्वांश एवं उत्तरांश। उसके बाद बीसवीं शती की सामग्री का भी अगले खंडों में समायोजन होना था। सामग्री का संग्रह, समायोजन, संपादन — सब एक साथ चल रहा था। आँखों की रोशनी धीरे-धीरे मंद होती जा रही थी, इसलिए शिवजी को सहायकों का सहारा लेना पड़ता था। स्वास्थ्य की इस स्थिति में इतना विशाल काम शिवजी के लिए अकेले करना संभव भी नहीं था। और कार्य के पूरा होने की आतुरता जैसी शिवजी को थी किसी और को नहीं। उनके एक सहायक का कार्य तो इतना दीर्घसूत्री था कि परिषद में लोग संदेह व्यक्त करने लगे कि ग्रंथ के प्रकाशन में जानबूझ कर विलंब और अड़चनें पैदा की जा रही हैं। अपनी डायरी में शिवजी ने इस पूरे प्रसंग पर बार-बार और खुलकर चर्चा की है।

'बिहार के साहित्यिक इतिहास में वह सुंदरता नहीं आ सकती जो मैं चाहता था; क्योंकि आँखों से न सूझने के कारण स्वयं कुछ लिख-पढ़ नहीं सकता। अंदाज पर दिनचर्या अंकित करता हूँ। इसी तरह उक्त इतिहास का भी कुछ अंश लिख सकता था; पर पढ़ने के लिए जैसी दृष्टि चाहिए वैसी अब नहीं रह गई। दृष्टि की शक्ति ठीक रहती तो मैं किसी का भरोसा न करता और न किसी का सहारा ही लेता। आँखों ने पराधीन बना दिया (डा. 2.2.59)। अब जीवन का एकमात्र लक्ष्य है साहित्यिक इतिहास को पूरा करना। यह लक्ष्य केवल रामकृपा से ही सिद्ध होगा। . . . भगवान ने इस शुभकर्म में सन् 1915 ई. से ही लगा दिया है (7.9.60)। परिषद-कार्यालय में नित्य जाता हूँ। (काम में) क्षण भर भी बाधा पड़ती है तो बहुत खलता है। मिलने-जुलने लोग आते हैं तो समय के मूल्य का ध्यान नहीं रखते। बीच-बीच में

---

* शिवजी अपने स्कूल-अध्यापन-काल से ही नियमित डायरी लिखा करते थे। लखनऊ के दंगे से बचकर जब वे भागे तो उनकी 1924 तक की डायरियाँ वहीं गुम हो गईं। दूसरी बार दरभंगा के भूकंप में उनकी बहुत सारी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक सामग्री नष्ट हो गई जिसमें उनकी तब तक की डायरियाँ भी थीं। कुछ और ऐसी सामग्री से भरा उनका एक बक्सा लहेरियासराय से 1939 में चलते वक्त भंडार में ही छूट गया जो उन्हें फिर वापस नहीं मिल सका। लेकिन छपरा जाने के बाद 1941 से मृत्यु के कुछ रोज़ पहले तक की उनकी सभी दैनंदिनियाँ उनके संग्रह में सुरक्षित रह गईं। परिणामतः इन 21-22 वर्षों की घटनाओं का दिनानुदिन विवरण इन दैनंदिनियों में उपलब्ध है।

लोग समय नष्ट न करते तो अब तक बहुत अधिक काम हुआ होता। रामकृपा होगी तो अगले साल के अंत तक बीसवीं शती का इतिहास तैयार कर दूंगा। शरीर और नेत्र-ज्योति के प्रत्येक कण का सदुपयोग इसी काम में करूंगा (20.3.61)। परिषद में दिन भर बिहार के साहित्यिक इतिहास का काम करता रहा। आठ बजे सुबह खाकर गया और छः बजे शाम को लौटा। अकेला ही पुस्तक-संपादन करता रहा। ईश्वर की कृपा है कि लगातार काम करते रहने पर भी मन नहीं थकता। घर लौटने पर शरीर के शिथिल होने से पता चला कि अविश्रांत गति से काम करने का फल अच्छा नहीं हुआ। भगवान से तो हरदम प्रार्थना करता ही रहता हूँ कि शरीर की शोचनीय स्थिति में किसी तरह साहित्यिक इतिहास का बेड़ा पार कर दें (12.6.61)। आज बिहार के साहित्यिक इतिहास का दूसरा खंड परिषद के संचालकजी और प्रकाशनाधिकारी को, प्रेस में भेजने के लिए दे दिया। पांडुलिपि प्रेसकापी देते समय ('क' जी) की इच्छा नहीं थी कि शीघ्रता में यह काम हो, पर संचालकजी कई बार मुझसे और ('क' जी) से मधुर शब्दों में कह चुके हैं कि शीघ्र ही छपना आवश्यक है, क्योंकि सब लोग उत्सुकता से जिज्ञासा करते रहते हैं। इसीलिए मैंने आज ही पांडुलिपि देने की तिथि घोषित कर दी थी (15.6.61)। 'साहित्य' का काम पूरा करके बिहार के साहित्यिक इतिहास का काम करने लगा। देखा कि जो सामग्री परिषद पुस्तकालय में सुलभ थी उसे भी ('ख' जी) ने संकलित करने की कृपा नहीं की है। ऐसा अनुमान हुआ कि वे समय अतिवाहित करना चाहते थे (15.7.61)। परिषद् में जाकर दस से पाँच तक बिहार के साहित्यिक इतिहास का काम किया। तीसरे खंड की पांडुलिपि-संचिका 'म' तक देख चुका। यह खंड पहले के दो खंडों से बड़ा होगा। भगवत्कृपा से आगामी वर्ष यह तीसरा खंड भी छपने लगेगा और बीसवीं शती की पांडुलिपि-संचिकाओं का संशोधन-संपादन भी होने लगेगा। रामकृपा से 1964 के अंत तक संपादनकार्य लगभग पूरा हो जायगा। अब केवल बिहार के साहित्यिक इतिहास के पूरा होने की ही चिंता रह गई है। यदि यह काम रामकृपा से ठीक-ठीक पूरा हो गया तो शांतिपूर्वक परलोक-यात्रा होगी — 'राम सदा सेवक रुचि राखी, बेद पुरान संत सब साखी' (28.12.62)।"

शिवजी ने ये अंतिम पंक्तियाँ जब लिखीं, उनके जीवन के कुल तीन सप्ताह और शेष थे। सेवा-निवृत्ति के बाद उन्हें कोई सरकारी पेंशन अथवा सहायता नहीं मिल रही थी। गंभीर आर्थिक संकट में उनके प्रकाशक भी उस ओर कोई ध्यान नहीं दे रहे थे। उनकी पुस्तकों से लाखों रुपये वे कमा रहे थे, पर इस कठिन समय में भी उनके प्रकाशक केवल आँखें चुराते और बहाने बनाते रहे। परिषद जाकर प्रतिदिन शिवजी 8-10 घंटे अथक परिश्रम करके बिहार के साहित्यिक इतिहास का संपादन-संशोधन करते रहे, पर सरकार ने उन्हें इतने महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए भी

कोई मानदेय या भत्ता नहीं दिया। बहुत किया तो रोज सवा रुपया उन्हें रिक्शा-भाड़ा भर देना स्वीकार किया। इस घोर आर्थिक शोषण का ही परिणाम था कि सेवा-निवृत्ति के बाद समुचित पोषण और चिकित्सा के अभाव में उनका दुर्बल शरीर बिलकुल जर्जर हो गया। पर शिवजी तो बिहार के साहित्यिक इतिहास को पूरा करने की आकुलता में अपना रक्त बहाने और अपनी अस्थियाँ भी होम करने से नहीं चूकना चाहते थे। सबसे क्रूर विडंबना तो यह हुई कि उस इतिहास के दूसरे खंड के बाद के प्रकाशित खंडों में शिवजी का नाम भी संपादक के रूप में नहीं दिया गया। स्पष्ट था कि जहाँ एक ओर केन्द्र सरकार ने इन्हीं दिनों उन्हें पद्मभूषण की उपाधि से अलंकृत किया, राज्य के एक विश्वविद्यालय (भागलपुर) ने उन्हें मानद डी. लिट् प्रदान किया, वहीं दूसरी ओर राज्य सरकार ने उनकी अवमानना करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। सरकारी सेवा के पुरस्कार स्वरूप उन्हें पेंशन से वंचित किया, और पूर्णतः अवैतनिक और समर्पित महत्त्वपूर्ण हिन्दी सेवा के प्रतिदान-स्वरुप उस ग्रंथ-शृंखला के आगामी खंडों से संपादक के रूप में उनका नाम हटा दिया जिसके संकलन-संपादन में उन्होंने अपना पूरा जीवन खपा दिया था।

सेवा-निवृत्त होने के बाद शिवजी सपरिवार एक कम किराये के छोटे मकान में पटना के मीठापुर मुहल्ले में चले गये थे। परिषद का नव-निर्मित भवन वहाँ से 6-7 कि.मी. दूर सैदपुर मुहल्ले में था। कदमकुआँ स्थित हिन्दी साहित्य सम्मेलन रास्ते में लगभग बीच में पड़ता था। दिनभर परिषद में साहित्यिक इतिहास का काम करने के बाद शिवजी अक्सर वापसी में सम्मेलन में रुकते थे। सम्मेलन में उन दिनों आचार्य बदरीनाथ वर्मा के नाम पर सर्वभाषा विद्यालय चलाया जाता था, जिसका प्राचार्य-पद शिवजी को प्रदान किया गया था जिससे एक राशि वेतन के रूप में प्रतिमाह उन्हें सम्मेलन से मिलती थी। किन्तु यह व्यवस्था भी कुछ महीने ही चली। सम्मेलन की स्थिति भी ठीक नहीं थी, और वहाँ के आंतरिक कलह और तनाव से शिवजी स्वयं घुटन का अनुभव कर रहे थे।

"पुराने और नये दल के झगड़े में सम्मेलन की मर्यादा और प्रतिष्ठा नष्ट हो रही है। दलबंदी का संघर्ष साहित्यिक समाज का घोर कलंक है। जहाँ सद्भाव नहीं वहाँ साहित्य कहाँ रहेगा। साहित्यसेवियों में दुर्भावना घोर ग्लानि की समस्या है।" (डायरी 11.12.61)।

शिवजी ने नये साल के पहले दिन सम्मेलन की स्थायी समिति और कार्यकारिणी के साथ ही बदरीनाथ सर्वभाषा महाविद्यालय से भी त्यागपत्र दे दिया — "साहित्य-सम्मेलन के सभापति और प्रधान मंत्री को डाक से त्यागपत्र भेज दिये — सर्वभाषा-महाविद्यालय का प्राचार्य-पद, स्थायी समिति और कार्य-समिति की सदस्यता आज से त्याग दी।" (डा. 1.1.62)। नलिनजी के देहांत के बाद 'साहित्य' के 'नलिन

स्मृति अंक' के प्रति सम्मेलन के अधिकारियों की उदासीनता से भी वे अत्यंत मर्माहत हुए थे।

"यह जानकर मन खिन्न हुआ कि 'साहित्य' का 'नलिन स्मृति अंक' अभी तक तीन ही फार्म छपा है। 'साहित्य' के साथ किसी की सहानुभूति नहीं है। सब लोग अधिकार और पद ही चाहते हैं।... एक वर्ष पूरा हो गया, कोई सम्मेलनाधिकारी संस्मरणांक के लिए कभी चिंतित या तत्पर न हुआ। . . . नलिनजी मर गये, सब सम्मेलनाधिकारी उन्हें भूल गये। . . . 'साहित्य' का 'नलिन स्मृति अंक' बहुत ही खराब छपा। मेरा सारा परिश्रम व्यर्थ हो गया। सम्मेलन के सदस्यों और पदाधिकारियों ने थोड़ी भी दिलचस्पी नहीं दिखाई। यह अतिशय दुख का विषय है। 'साहित्य' का विशेषांक देख दिल बैठ गया। . . . सम्मेलन की दशा अत्यंत शोचनीय और दयनीय है। किसी सदस्य या अधिकारी के मन में साहित्यिक चेतना नहीं जान पड़ती। सम्मेलन के लिए किसी साहित्यकार के हृदय में किसी प्रकार की पीड़ा नहीं अनुभूत होती। अब सम्मेलन का उद्धार हरिइच्छा से ही संभव है।" (डा. 5.7./8.9./27.11./ 27.12.62)।

सेवा-निवृत्ति से पूर्व भी शिवजी कई बार मधुमेह के कारण गंभीर रूप से शैय्याग्रस्त रहे थे, 1957-58 में पैर में घाव के कारण लगभग 6-7 महीने बिलकुल अशक्त रहे, एकाधिक बार अस्पताल में भी भर्ती कराये गये, पर इन सारे शारीरिक कष्टों के बावजूद वे सम्मेलन और परिषद के माध्यम से हिन्दी की एकनिष्ठ सेवा में निरंतर सन्नद्ध रहे। परिषद से बिहार के साहित्यिक इतिहास के कार्य के मध्य में ही अपमानपूर्वक सेवा-निवृत्त होने की ग्लानि, घोर आर्थिक संकट, प्रकाशकों का निर्मम शोषण-उत्पीड़न, अनेक प्रकार की शारीरिक व्याधियां और निरंतर गिरता स्वास्थ्य, बिहार के साहित्यिक इतिहास को पूरा करने की व्यग्रता में अपरिमित श्रम, बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन की पतनोन्मुखता—यह सारी यंत्रणा, यह सारा अवसाद शिवजी के जीवन के इन अंतिम वर्षों में घनीभूत होकर उनके शरीर को भीतर से छीजता गया।

जीवन के जो कुछ महीने शेष थे उनमें ऐसी विषम परिस्थितियों में भी उनपर काम का भारी बोझ लदा ही रहा। बिहार के साहित्यिक इतिहास वाले गुरुतर कार्य के अलावा 'साहित्य' के संपादन का सारा भार भी अब वे अकेले ही ढो रहे थे, और ऊपर से राजेंद्र बाबू की अठहत्तरवीं वर्षगाँठ पर 'बिहार की महिलाएँ' नामक अभिनंदन ग्रंथ के संपादन का भार श्री जयप्रकाश नारायण के आग्रह पर शिवजी ने स्वीकार कर लिया। शारीरिक अस्वस्थता की ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में काम का इतना भारी बोझ शिवजी के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ। अक्सर परिषद से लौटते हुए वे सम्मेलन-भवन और महिला चर्खा समिति में रुककर 'साहित्य' और

'अभिनंदन-ग्रंथ' के संपादन-संशोधन का दुष्कर कार्य करते और देर शाम अपने मीठापुर भगवान रोड के निवास वापस पहुँचते।

जनवरी 1963 की डायरी की अंतिम अधूरी प्रविष्टि 12 जनवरी की है। पिछले सप्ताह भी वे नियमानुसार परिषद जाकर साहित्यिक इतिहास का काम करते रहे थे। दो-तीन दिन अत्यधिक क्लांति के कारण वे परिषद नहीं जा सके थे, और अस्वस्थता की स्थिति में ही 13 जनवरी को कड़ाके की सर्दी और बदरीले दिन में भी वे परिषद गये और पूरे दिन वहाँ काम करने के बाद वापसी में हल्की बारिश में रिक्शे पर ही भींग गये। उसी रात उन्हें ज्वर हो आया। क्लांत-जर्जर शरीर के ज्वर को मधुमेह के प्रकोप ने अर्द्धचेतनावस्था में पहुँचा दिया। जनवरी 16 की शाम उन्हें ऐंबुलेंस से पटना मेडिकल अस्पताल ले जाया गया। वहाँ उन्हें बिना पक्की जाँच के काफी मात्रा में इंसुलीन की सुई लगा दी गई। कुछ ही घंटे बाद लगभग आधी रात को वे हाइपोग्लाइसीमिक कोमा में चले गये। अगली सुबह से सारी दौड़-धूप शुरू हो गई, प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ. मधुसूदन दास और उनके अंतर्गत सरकारी आदेश से गठित पटने के बड़े-बड़े डाक्टरों की टीम ने हर संभव प्रयास किये, पर अचेतावस्था में ही 21 जनवरी के ब्राह्म-मुहूर्त्त में शिवजी की साँस टूट गई।

सुबह अस्पताल से शिवजी का पार्थिव शरीर हिन्दी साहित्य सम्मेलन भवन लाया गया। वहाँ से दोपहर बाद फूलों से सजे हुए ट्रक पर उसे परिषद ले जाया गया और फिर अशोक राजपथ से पटना विश्वविद्यालय होते हुए वह शव-यात्रा सूर्यास्त-वेला में बाँसघाट पहुँची, जहाँ वैदिक रीति से अंत्येष्टि-क्रिया संपन्न हुई। शिवजी का श्राद्ध-कर्म उनके जन्मग्राम उनवांस में उनके परिवार द्वारा किया गया, एवं उनकी अस्थियों को काशी एवं प्रयाग-संगम में प्रवाहित किया गया। काशी एवं प्रयाग के सभी प्रमुख साहित्यिक इस अस्थि-प्रवाह में सम्मिलित हुए थे।

शिवजी की मृत्यु के बाद राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक स्तर के सभी हिन्दी पत्रों एवं पत्रिकाओं ने शिवजी की स्मृति में अपने-अपने विशेषांक प्रकाशित किये। देश के सभी प्रमुख साहित्यकारों, राजनेताओं एवं साहित्यिक संस्थाओं ने अपने शोकोद्‌गार व्यक्त किये। राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा — 'हिन्दी साहित्य के उत्थान एवं अभिवृद्धि में उनकी सेवाएँ सदा स्मरणीय रहेंगी।" अपने शोक-संदेश में राजेन्द्र बाबू ने लिखा — "हिन्दी सेवा अपने में एक राष्ट्र-सेवा है। मूक हिन्दी सेवा ही व्रत था आचार्य शिवजी का। शिवजी-ऐसे तपःपूत साहित्यकारों के प्रेम-भाव से मुझे बराबर प्रेरणा मिलती रही है, गाँधीजी द्वारा बताये गये सत्य के मार्ग पर और साहस के साथ आगे बढ़ने की। मेरी कामना है कि इस प्रकार के हिन्दी सेवक देश में और अधिक पैदा हों। हिन्दी सेवा देश सेवा का अभिन्न अंग है। . . . राष्ट्रभाषा और राष्ट्र की सेवा में अपने को तिल-तिल मिटा देना

ही शिवजी का धर्म था। उनकी दुखद मृत्यु से राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की अपूरणीय क्षति तो हुई ही है, मेरे लिए एक अनन्य सखा चल बसा।"

हिन्दी के सभी साहित्यकारों ने एक स्वर से शिवजी के निधन को हिन्दी की एक अपूरणीय क्षति बताया। आचार्य शिव के महाप्रयाण से हिंदी साहित्य के एक युग का अंत हुआ था, और इस अवसान-बोध को मार्मिक शब्दों में अभिव्यक्त किया था कविवर बच्चन ने अपनी श्रद्धांजलि में —

"उन्होंने हिन्दी को जितना दिया है और हिन्दी के लिए जितना किया है, उससे वे हिन्दी संसार में सदा के लिए जीवित और आदरास्पद माने जायेंगे। वे अपनी यशःकाया में अमरों की श्रेणी में हैं। उनके साहित्य और व्यक्तित्व से भविष्य की न जाने कितनी पीढ़ियाँ प्रेरणा प्राप्त करती रहेंगी।"

2
साहित्य-साधना

क. कथा-साहित्य

अपनी आत्मकथा में शिवपूजन सहाय ने लिखा है कि जब वे 1910 में मैट्रिक में पहुँचे, उसी साल से पहले-पहल उन्होंने विधिवत हिन्दी पढ़ना शुरू किया। उससे पहले उनका हिन्दी का अभ्यास रामचरित मानस के नियमित पारायण तक सीमित था, और स्कूल में वे बराबर उर्दू-फारसी ही पढ़ते आये थे। उन दिनों हिन्दी पढ़नेवाले छात्रों की संख्या उसी तरह इक्की-दुक्की हुआ करती थी जैसे आज के दिन उर्दू-फारसी या संस्कृत पढ़नेवालों की हो गई। लेकिन स्कूल की पढ़ाई के अलावा उनका सारा समय हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों को पढ़ने में लग रहा था। इसके कारण भी स्पष्ट थे। आरा की नागरी प्रचारिणी सभा, जो कुछ ही दिन पहले स्थापित हुई थी, उन दिनों प्रदेश की अग्रणी हिन्दी संस्था के रूप में उभर रही थी, जहाँ हिन्दी के कई गण्यमान्य साहित्यकार नित्यप्रति एकत्रित होते थे और शिवपूजन सहाय को हिन्दी में साहित्य-सृजन की प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रेरणा देते रहते थे। किन्तु इससे भी बड़ा कारण शायद यह था कि तीन-चार ही वर्ष पहले उनके पिता की मृत्यु हुई थी जिनकी सदा से इच्छा रही कि उनका पुत्र हिन्दी ही पढ़े-लिखे। पिता के जीवनकाल में उनकी जिस इच्छा की पूर्त्ति नहीं हो सकी थी, अब अवसर आने पर उस दायित्व को पूरा करने का उत्प्रेरण प्रबल हो उठा, यह सर्वथा स्वाभाविक था। एक और प्रसुप्त अभिप्रेरण यह भी अवश्य रहा होगा कि यदि साहित्य को जीवनसंगी बनाना है तो हिन्दी की ही शरण गहनी होगी। और इसीलिए इन परिस्थितियों में पहले हिन्दी गद्य की साधना की ओर मुड़ना उनके लिए अनिवार्य हो गया। प्रारंभ में उनकी भाषा का तत्सम-बहुल होना निश्चय ही उनके उर्दू-फ़ारसी अभ्यास का सायास निषेध रहा होगा। उर्दू-फ़ारसी का दर्ज़ा बचपन के संगी-साथी का ज़रूर रहा, पर उनका पहला प्रेम हिन्दी ही बनी। और इस प्रेम में वे जल्दी ही आकंठ डूब गये।

उनकी प्रारंभिक गद्य रचनाओं की भाषा अधिकाधिक अलंकृत एवं संश्लिष्ट है। लगभग एक दशक तक उन्होंने अपने गद्य में संगीत, रस और रचाव की कठोर साधना की जो उनकी प्रारंभिक रचनाओं में स्पष्टतः परिलक्षित है। लेकिन उस तत्सम-बहुल अलंकृत भाषा का उनकी विशिष्ट शैली के साथ संतुलन बराबर बना

रहा। विषयानुकूल भाषा और सौंदर्यानुकूल अलंकरण उनकी शैली की सदा अनुगामिनी ही रहीं। उर्दू-फ़ारसी की चमक और झलक, मुहावरों की तराश — इनका प्रयोग भी इस प्रारंभिक भाषा-साधना का आवश्यक अंग बना रहा, पर अब वह संस्कृत-सिंचित शैली की रेशमी बुनावट में हल्की ज़री की तरह कहीं-कहीं दिखाई पड़ता था।

शिवपूजन सहाय के साहित्यिक जीवन का प्रारंभ हम 1910 से मान लें तो अगले दस वर्ष उनके लिए भाषा-शैली की साधना के वर्ष थे। इस दशक में उन्होंने जितने भी आदर्शमूलक अथवा ललित निबंध या गल्प लिखे वे सभी उनकी भाषा-साधना के प्रारंभिक चरण के रूप में देखे जा सकते हैं। उनकी ये रचनाएँ 'शिक्षा' (पटना), 'लक्ष्मी' (गया), 'मनोरंजन' एवं 'साहित्य पत्रिका' (आरा) जैसी शुद्ध साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं जो सभी प्रादेशिक स्तर की ही पत्रिकाएँ थीं। इन पत्रिकाओं के संपादक भी ('लक्ष्मी', के संपादक लाला भगवान दीन को छोड़कर, जो उत्तर प्रदेश के थे) सभी आरा-निवासी थे। 'मनोरंजन' के संपादक पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा तो इनके सखा-सहपाठी और शिक्षक-सहकर्मी ही नहीं, सर्वतोभावेन साहित्यिक अभिभावक भी थे।

इनकी सबसे पहली रचना 'होली में सभ्यता का नाश' पं. सकलनारायण शर्मा संपादित 'शिक्षा' में 1912 में प्रकाशित हुई थी। सबसे पहला गल्प 'तूती-सुगी-मैनी' व्रजनंदन सहाय 'व्रजवल्लभ'-संपादित 'साहित्य पत्रिका' में अक्तूबर-नवंबर, 1914 में छपा था। अपनी 1917 की डायरी में शिवजी ने अंकित किया है कि "सर्वप्रथम गल्प यही लिखा था"। बाद में यही गल्प 'तूती मैना' के रूप में संशोधित होकर उनके प्रथम कहानी-संग्रह 'महिला-महत्त्व' में संकलित हुआ।

'महिला महत्व' का पहला संस्करण 1922 में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ, जब शिवजी महादेवप्रसाद सेठ के बालकृष्ण प्रेस में रहकर 'मारवाड़ी सुधार' का संपादन कर रहे थे। पुस्तक का मूल संस्करण उसी प्रेस में छपा और सेठजी के सुलभ ग्रंथ प्रचारक मंडल द्वारा प्रचारित एवं वितरित हुआ। इस पुस्तक में शिवजी की तब तक की रचित एवं विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित दस कहानियाँ, जिन्हें उप-शीर्षक में 'आख्यायिकाएँ' कहा गया था, संगृहीत थीं। पुस्तक की भूमिका से लेखक के ये शब्द उद्धरणीय हैं:

"जो दस आख्यायिकाएं इस पुस्तक में संग्रह की गयी हैं, वे आज से कई वर्ष पहले (विभिन्न पत्रिकाओं में) प्रकाशित हो चुकी हैं। किन्तु जिस रूप में वे प्रकाशित हुई थीं, वह रूप अब नहीं रहा। संग्रह करने से पूर्व मैंने यथाशक्ति उनका सम्पादन कर दिया है। मैंने भावों में भी भव्यता और नव्यता लाने की चेष्टा की है तथा भाषा को भी परिमार्जित एवं परिष्कृत बनाने का प्रयत्न किया है। (पहले लिखी अथवा

संपादित अपनी पुस्तकों से) कहीं अधिक मेरी ममता इसी पुस्तक पर है; . . . दसों आख्यायिकाएँ सच्ची घटनाओं के आधार पर लिखी गयी थीं। . . ."

'महिला महत्व' का यह पहला संस्करण बाद में पुस्तक भंडार, लहेरियासराय से कई बार मुद्रित होकर प्रकाशित होता रहा। वहीं से 1935 में इसका नवीन संस्करण 'विभूति' शीर्षक से प्रकाशित हुआ जिसमें इस बीच की और छः कहानियाँ सम्मिलित की गई थीं। अब इन कहानियों की संख्या सोलह हो गई थी, यद्यपि पहले की दस कहानियों के क्रम में कोई परिवर्तन नहीं किया गया था। 'विभूति' का चतुर्थ संस्करण 1950 में पटना के ग्रंथमाला कार्यालय से प्रकाशित हुआ, और अंततः यह संग्रह 'शिवपूजन रचनावली' के प्रथम खंड में संकलित हुआ।

भाषा-शैली के परिष्कार के दृष्टिकोण से यदि हम लेखक की सर्वप्रथम रचित कहानी 'तूती मैना' पर विचार करें, और उसके तीन उपलब्ध पाठों पर ध्यान दें तो लेखक की गद्य-शैली एवं कहानी की रचना-प्रक्रिया पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ेगा। ये तीन पाठ हैं (1) 'साहित्य पत्रिका' में प्रकाशित मूल पाठ, (2) 'महिला महत्त्व' के मूल संस्करण का पाठ तथा (3) 'शिवपूजन रचनावली', खंड-1 का पाठ (1956)। ध्यातव्य है कि 'शिवपूजन रचनावली' का अंतिम पाठ स्वयं लेखक की देखरेख में प्रकाशित हुआ था। इस कहानी का सर्वप्रथम पाठ 'तूती सूगी मैनी' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था जो पाठ-2 में 'तूती मैना' हो गया। पाठ-2 और 3 में वर्त्तनी-संबंधी कुछ थोड़े से स्पर्श के सिवा शैलीगत कोई परिवर्त्तन नहीं किया गया। किन्तु पाठ-1 और 2 में यह परिमार्जन शैली के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

'तूती मैना' को लेखक ने गल्प की संज्ञा दी है। बंगला में गल्प का प्रयोग छोटी कहानी (शॉर्ट स्टोरी) के अर्थ में होता है। यह एक काल्पनिक कथा है जो गद्य-काव्य की शैली में रचित है। वसंत ऋतु में एक राजकुमार आखेट के क्रम में एक लहलही लता-सी तन्वी वन्य-सुंदरी से मिलता है जो एक ऋषि के आश्रम में पली है। ऋषि की अनुमति से परिणीता बनकर वह राजकुमार के साथ उसके राजमहल में जाती है, और वहाँ की बारहदरियों में बंद होकर रह जाती है :

'प्रिय पाठक, जो तूती शून्यारण्य में कुहुकती थी, जिस के कुन्तल कलाप को पन्नगी परिवार समझ कर मयूरमाला अपने चोंचों से धीरे-धीरे बखेरती थी, जिस सूगी के दिये हुए अनारों को फोड़-फोड़ कर रस चाखने वाले सूगों की भीड़ बन्य कुटीर के पास वृक्षशाखाओं पर नित्य ही होती थी, जिस मैनी की बोली सुन कर मैना भी अपनी बोली भूल कर उसी मीठी बोली को बोलने का अभ्यास करते थे, जिसकी हथेलियों से ललाई, आँखें से लुनाई, और ओठों से मधुराई ले ले कर प्रकृति मधुमक्षिका ने अपने वन्य कुसुमकुंजपुंज रूपी छत्रों में भर दिया था, जिसके फूलों से भरे फांड में से भौंरों का झुंड निकल-निकल कर सुरभित स्वास समीर से बावले

उतावले से होकर प्राणरन्ध्र के पास झुक पड़ते थे और बन्य पुष्करिणीजात कोमलकमलकोशगत भ्रमरों की टांग भी जिसके कपोल पर फिसल जाती थी—वही बनविहंगिनी बाला आज दिन राजप्रसाद में मखमली पर्दों में, वृहद्दर्पणालंकृत भव्य भवनों में, कालीन और गलीचे बिछे हुए कमरों में, खस की टट्टी लगी हुई बारहदरियों में और देव अप्सराओं की विचित्र चित्रमालाओं से मण्डित दालानों में बन्द रहती है। जो बिजली बन में इसकी शोभा खुल्लमखुल्ला बारम्बार निहार कर आरती उतार जाती थी अब वही खिड़कियों की राह से भी झांकने नहीं पाती — तड़प-तड़प कर बाहर ही रह जाती है। बन्यबृक्षलतादिकों को सींचने के समय जो श्रमस्वेद-कण परिलक्षित होते थे उन्हें प्रकृति देवी अपनी पवनान्दोलित लतिका कन्यकाओं के पुष्पमयअंचलों से पोंछ लेती थी अब उन्हीं कुसुमकुण्डल रंजित कलकपोलों को शशिशेखर कुमार जब सुरतिश्रमजनित स्वेदकणों से सिक्त देखते हैं तब नवविकसित पाटलिपुष्पों को पोंछ कर उन पुष्पों को अपनी फूली हुई छाती और खिली हुई आँखों से छुवा कर प्रेममत्त हो धीरे से चूम लेते हैं। जो हाथ आँधी पानी और झंझावात के झोंके से इतस्ततः उलझी तथा झुकी हुई लताओं का कान्त कलेवर सुधारने में सधे थे अब वे हाथ हारमोनियम, मुरली, सितार और वीणा पर सध गये।" (पाठ-1)

"अहा तो तूती शून्यारण्य में चहकती थी, जिसके कुन्तलकलाप को पन्नगी-परिवार समझ कर मयूर-माला अपनी चोंचों से धीरे-धीरे बखेरती थी, जिसके दिये हुए अनार-दानों को चखनेवाले शुक-शावक कुटी के पास वृक्षशाखाओं पर बैठकर नित्य ही कलरव करते थे, जिसकी बोली सुनकर जंगली मैना भी अपनी बोली बिसार कर वैसी ही मीठी बोली बोलने का अभ्यास किया करती थी, जिसके फूलों से भरे अंचल में से बावले-उतावले भ्रमरों का झुंड निकल-निकलकर, सुरभित-श्वास-समीर के लोभ से, प्राणरन्ध्र के पास टूट पड़ता था, वही तूती अब राज-प्रासाद के मख़मली पर्दों में, वृहद्दर्पणालंकृत विविध-चित्र-विभूषित विलास-मन्दिरों में और खस की टट्टियों से जड़ी हुई बारहदरियों में बन्द रहने लगी। जो बिजली वन में तूती की शोभा निहार कर आरती उतार जाती थी, अब वही बिजली खिड़कियों की राह से भी झाँकने नहीं पाती — तड़प तड़पकर बाहर ही रह जाती है। वन्य वृक्षलतादिकों को सींचने के समय तूती के विधु-बदन पर जो श्रम-स्वेद-कण परिलक्षित होते थे, उन्हें प्रकृति-देवी अपनी पवनान्दोलित लतिका-कन्यकाओं के पुष्पमय अंचलों से पोंछ लेती थी; अब उन्हीं कुण्डलकलित कल-कपोलों को शशि-शेखर-कुमार अपनी सुगन्ध-सिक्त रेशमी रूमालों से पोंछकर, उन्हें आँखों से लगा लेते हैं। जो हाथ झंझावात के झोंके से इतस्ततः उलझी हुई लताओं को सुधारने में सधे थे, अब वे ही हाथ हारमोनियम और सितार पर सध गये।" (पाठ-2)

'रचनावली' में अंततः जो पाठ उपलब्ध है वह दूसरे पाठ से केवल नोंक-पलक संवारने के अर्थ में ही भिन्न है। इसमें विभक्तियों को अलग कर दिया गया है, और एक-दो स्थानों पर एकाध शब्दों का हेरफेर है, जैसे - "निकल-निकलकर/निकलकर," "विविध-चित्र-विभूषित/विधि-विभूषित," या "अपनी . . . रूमालों से/अपने . . . रूमाल से," आदि। स्पष्ट है, और जैसा लेखक ने 1922 की अपनी भूमिका में लिखा है कि शैलीगत परिमार्जन–परिष्कार का जो अनुपात पुस्तक के प्रथम संस्करण में दिखाई देता है, बाद में वह प्रायः स्थिर हो जाता है। रचना-प्रक्रिया के स्तर पर भी इस कहानी में तथा इस प्रथम संस्करण की अन्य कहानियों में भी पहले और दूसरे पाठ की तुलना से स्पष्ट होता है कि लेखक की कला-दृष्टि में उल्लेखनीय विकास हुआ है। 'तूती मैना' के मूल पाठ में एक अंग्रेज़ी सूक्ति है जिसे पाठ-2 से निकाल दिया गया है। कहानी के परिच्छेद-विभाजन को अधिक युक्तिसंगत बनाया गया है, "प्रिय वाचकवृंद", "प्रिय पाठक" जैसे संबोधनों के पुरानेपन से कथन-शैली को मुक्त किया गया है, और अभिव्यक्ति में वांछित संयम और कसाव दृष्टिगोचर होता है। 'विभूति' के चतुर्थ संस्करण के लेखकीय वक्तव्य में उल्लिखित है कि "कहानियों की सूची में उनका रचना-काल पूर्ववत् रहने दिया गया है। उसी से इतिहास का कुछ आभास मिल जायगा"। यह सूची रचनावली में भी यथावत छपी है; अतः इसे पूर्णतः प्रामाणिक माना जाना चाहिए। इसके अनुसार 'हठ भगतजी' शिवपूजन सहाय की सबसे पहली कहानी है, किन्तु इसका प्रकाशन बाद में हुआ। शिवजी ने अपनी 1917 की डायरी में अपनी प्रारंभिक रचनाओं की जो सूची दी है, यदि हम उसे अधिक विश्वसनीय मानें तो उनकी सबसे पहली प्रकाशित कहानी 'राव से रंक' है, जो 'तूती-सूगी-मैनी' से भी लगभग डेढ़ वर्ष पहले 'मनोरंजन' में छपी थी। "राव और रंक" बालकथा-शैली में लिखी गई है—'किसी देश में एक महाप्रतापी राजा रहता था। वह अपने अपरिमित ऐश्वर्य से कुबेर को भी लज्जित करता था।" — और शायद इसीलिए उसे शिवजी ने अपनी कहानियों में संकलित नहीं किया। (यह रचना उनके निबंधों के साथ 'रचनावली-3' में संगृहीत हुई।) इसलिए अधिक संभावना लगती है कि 'तूती मैना' ही शिवजी की संकलित कहानियों में सबसे पहली कहानी है।

शिल्प और शैली के अध्ययन की दृष्टि से 'तूती मैना' के उपलब्ध पाठों की तुलना का विशेष महत्त्व है। जैसा 'महिला महत्त्व' के मूल संस्करणं की भूमिका में लेखक ने लिखा है - "मैंने इस पुस्तक का सविधि संपादन करने में घोर परिश्रम किया है" - इस पाठांतर-अध्ययन से इसकी सम्यक पुष्टि होती है। शैली और शिल्प, दोनों के विकास पर इस घोर परिश्रम का कैसा प्रभाव पड़ा है यह 'तूती मैना' के पाठांतर अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। यदि 'तूती मैना' शिवजी की पहली कहानी है जिसे लेखक ने संकलनीय मांना है, और जिसे हम एक साहित्यिक कृति के रूप

में विवेच्य मानते हैं, तो इसके पाठांतर-शोध से हमें कहानीकार के रूप में शिवजी की कला के उन्मेष का रेखाचित्रण करने में सुविधा हो सकती है।

'विभूति' की पहली दस कहानियों में, जो प्रथमतः महिला महत्व शीर्षकांतर्गत संकलित हुई थीं, शिवजी की "मुंडमाल" कहानी सर्वाधिक प्रशंसित एवं लोकप्रिय सिद्ध हुई है। इसके कथासूत्र से जुड़ी हुई उनकी दूसरी कहानी है "सतीत्व की उज्ज्वल प्रभा"। इसी ऐतिहासिक प्रसंग से जुड़ी हुई एक और कहानी है "विषपान"। इन तीनों कहानियों की कथावस्तु जेम्स टॉड की प्रसिद्ध पुस्तक 'ऐनल्स ऑफ राजस्थान' से ली गई है जिसमें मुग़लों के विरुद्ध राजपूतों के शौर्य की प्रेरक गाथाएं अंकित हैं। 'मुंडमाल' और 'सतीत्व की उज्ज्वल प्रभा', दोनों कहानियों का कथासूत्र एक है।

"सतीत्व की उज्ज्वल प्रभा" में अरवली पर्वत की तलहटी में बसी रियासत रूपनगर की राजकुमारी प्रभावती अपूर्व सुंदरी है जिस पर मुग़ल बादशाह औरंगज़ेब की कुदृष्टि है। उसने रूपनगर के सामंत के पास युद्ध का संदेश भेजा है। राजकुमारी प्रभावती उदयपुर के महाराणा राजसिंह के पास अनुनय-पत्र भेजती है कि आततायी मुगल आक्रमणकारी से उसकी सतीत्वरक्षा के हित में उससे ब्याह रचा लें। उदयपुर के दरबार में महाराणा यह पत्र पाकर अपने सरदार चूड़ावतजी से परामर्श करते हैं। तय होता है कि इधर महाराणा राजसिंह रूपनगर चलकर ब्याह रचावें और उधर सरदार चूड़ावतजी अपनी पूरी सेना के साथ दिल्ली से रूपनगर की ओर प्रस्थित मुगल सेना का मुकाबला करने बढ़ें। इसी मुकाबले के लिए चलते वक्त नव-विवाहित सरदार चूड़ावतजी अपनी नवोढ़ा वधू हाड़ी-रानी से विदा लेते हैं, और युद्ध-भूमि में प्रेरणा पाने के लिए उनसे कोई प्रणय-चिन्ह मांगते हैं, जिसके बदले में रानी तलवार के एक झटके से अपना सिर उतारकर उन्हें भिजवाती हैं। शौर्य के इस आदर्श प्रतीक का मुंडमाल गले में पहनकर चूड़ावतजी औरंगज़ेब की सेना से लोहा लेने चल पड़ते हैं। हाड़ा-रानी और चूड़ावतजी का यही अद्भुत प्रणय-प्रसंग 'मुंडमाल' की कथावस्तु है। युद्ध में औरंगजेब की सेना यद्यपि पराजित हुई, पर चूड़ावतजी वीरगति को प्राप्त हुए। विजयी सेना जब उदयपुर पहुँची तब तक वहाँ महाराणा राजसिंह अपनी परिणीता रानी प्रभावती के साथ विजयी-वीरों का अभिनंदन करने को प्रस्तुत थे।

राजस्थानी इतिहास-प्रसंग से जुड़ी इन तीन कहानियों में निस्संदेह शैली और शिल्प की दृष्टि से 'मुंडमाल' सर्वश्रेष्ठ है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन 'आर्यमहिला' (जून, 1918) में हुआ था। 'तूती मैना' की तरह ही इसके भी तीनों पाठ उपलब्ध हैं, पर जहाँ 'तूती मैना' के पहले पाठांतर में भाषागत परिष्कार का विशेष आग्रह दिखाई पड़ता है, 'मुंडमाल' में इसका अनुपात काफ़ी घटा है, और शिल्पगत परिमार्जन पर अधिक जोर दिया गया है। उदाहरण के लिए कहानी में कम-से-कम तीन स्थलों

पर तीन-तीन चार-चार बिलकुल नये वाक्य जोड़े गये हैं, और लगभग दो दर्जन वाक्यों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं। कुछेक ऐसे परिवर्तन द्रष्टव्य हैं - "छिः! क्षत्रियका छोटा-मोटा छैल-छोकड़ा भी छिन भर में शत्रुओं को छील-छाल कर छुट्टी कर देता है/क्षत्रिय का छोटा-मोटा छोकरा भी क्षण-भर में शत्रुओं को . . . ", "क्या यदि सुमित्रा देवी लक्ष्मण के सांसारिक सुख की ओर ध्यान दिये होती तो, लखनलाल को इतना अक्षय यश लूटने का अवसर मिलता/यदि नव-विवाहिता उर्मिला देवी वीर-शिरोमणि लक्ष्मण को सांसारिक सुखोपभोग के लिए कर्तव्यपालन से विमुख कर दिये होती, तो क्या कभी लखनलाल को अक्षय यश लूटने का अवसर मिलता"।

'महिला महत्त्व' की दस कहानियों में 'तूती मैना' को यदि हम सबसे पहली कहानी मानें तो "मुंडमाल" आखिरी खेप की कहानी है, और दोनों के रचना-काल और प्रकाशन-अंतराल में लगभग चार से पाँच वर्षों की दूरी है। इन कहानियों के पाठांतर-शोध से इतना स्पष्ट हो जाता है कि शैली और शिल्प—दोनों ही स्तरों पर 'महिला महत्व' के प्रकाशन के समय तक कहानी-लेखन में शिवपूजन सहाय ने एक निश्चित निर्माण-कौशल उपलब्ध कर लिया था, और इस प्रारंभिक दशक की भाषा-साधना से जो क्षमता और अधिकार उन्हें प्राप्त हुआ था आगामी पत्रकारिता के कठोर अभ्यास से उसकी शक्ति दिनानुदित संवर्द्धित होनेवाली थी।

'विभूति' में जो छः कहानियाँ जुड़ीं वे सभी 1923 से 1931 के बीच प्रकाशित हुई थीं, और शिवजी जब बनारस से पुस्तक भंडार लहेरियासराय (दरभंगा) में विधिवत 'बालक' का संपादन करने चले आये तब 1935 में 'विभूति' में सभी सोलह कहानियाँ संगृहीत छपीं। इन नई छः कहानियों में एक और कहानी "शरणागत-रक्षा" राजपूती शौर्यादर्श से संबद्ध थी, और अंतिम कहानी "बुलबुल का गुलाब" ऑस्कर वाइल्ड की काव्यात्मक कहानी 'द नाइटिंगेल ऐंड द रोज़' का मुक्त हिन्दी रूपांतर थी। शेष सभी कहानियाँ सामाजिक समस्याओं से संबद्ध थीं। किन्तु यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यदि 'महिला महत्त्व' की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'मुंडमाल' थी तो संपूर्ण संग्रह 'विभूति' की सर्वश्रेष्ठ कहानी थी 'कहानी का प्लॉट'। शिवजी ने 'विभूति' की भूमिका में स्पष्ट कर दिया था :

"इसकी पन्द्रह कहानियाँ मौलिक हैं और अंतिम कहानी अंग्रेजी से अनुवादित है, जो ऑस्कर वाइल्ड की है। मौलिक कहानियाँ सच्ची घटनाओं के आधार पर ही लिखी गयी हैं। कोई कहानी कल्पित नहीं है। सबका ऐतिहासिक और सामाजिक आधार सत्य है।"

'कहानी का प्लॉट' शिवजी की अंतिम मौलिक कहानी है जो 1928 में 'सरोज' में छपी थी। इसकी रचना का वर्ष भी 1928 ही है। इस कहानी का जो पाठ 'सरोज' में छपा है, वह 'विभूति' के पाठ से केवल इसी अर्थ में भिन्न है कि विभक्तियों को

अलगाया गया है, और कुछ लंबे अनुच्छेदों को तोड़कर छोटे-छोटे अनुच्छेदों में बदला गया है; अन्यथा दोनों पाठ शब्दशः एक हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि शैली और शिल्प के स्तर पर पाठांतर का अनुपात 'तूती मैना' में अधिकतम है तो वह 'कहानी का प्लॉट' तक पहुँचकर न्यूनतम हो गया है। साथ ही यदि 'तूती मैना' काव्यात्मक कथावस्तु एवं गद्य का प्रतिमान है तो "कहानी का प्लॉट" यथार्थपरक सामाजिक कथावस्तु एवं तदनुरूप गद्य की अप्रतिम कलाकृति।

'महिला महत्त्व' और 'विभूति' — दोनों की ही भूमिकाओं में लेखक ने इसे रेखांकित किया है कि 'बुलबुल और गुलाब' के सिवा शेष सभी कहानियाँ "सच्ची घटनाओं के आधार पर ही लिखी गयी हैं"। जिन चार कहानियों का आधार ऐतिहासिक था, उनके अलावा भी शेष सभी ग्यारह कहानियाँ 'सच्ची घटनाओं' पर आधारित थीं जिन्हें लेखक ने "कानों-सुनी" घटनाओं से प्रेरित होकर लिखा था। स्पष्टतः, अपने कथा-सृजन में सामाजिक अथवा ऐतिहासिक यथार्थ के चित्रण का यह आग्रह रचनाकार की विशिष्ट कला-दृष्टि की परिचायक है। ऐतिहासिक आख्यायिकाएं भी समय-सापेक्ष सामाजिक यथार्थ एवं मूल्यों को ही प्रस्थापित करती हैं। यथार्थ के प्रति लेखक का यह बारंबार आग्रह — "कोई कहानी कल्पित नहीं है" - प्रबुद्ध पाठक अथवा समालोचक को सही समीक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित करता है। यह संभवतः अकारण नहीं कि 'विभूति' की अंतिम कहानी — जो लेखक द्वारा अनूदित एकमात्र कहानी है — कल्पना और यथार्थ की इस खींचतान को गुलाब के काँटे से बिंधते बुलबुल के हृदय से निकले अमर संगीत और उससे खिले रक्तिम गुलाब के प्रतीक में अभिव्यक्त करती है।

ऐतिहासिक और सामाजिक यथार्थ के प्रति इतना गहन आग्रह रखनेवाले कथाकार के लिए अपने एकमात्र कहानी-संग्रह का समापन एक अनूदित आदर्शवादी प्रतीकात्मक कहानी से करना मात्र संयोग नहीं माना जा सकता। 'विभूति' की सभी कहानियों को यदि हम एक पुस्तकान्विति के रूप में देखें — भले ही भाषा शैली अथवा शिल्प की दृष्टि से उनमें से कई कहानियाँ कसौटी पर खरी न उतरती हों, अथवा उनका पुरानापन खटकता हो — तो निश्चय ही लेखकीय वक्तव्य के इंगित पर हम उनके मूल्यांकन का सही दृष्टिकोण उपलब्ध कर सकते हैं। अथवा यों कहे, बुलबुल के लहूलुहान हृदय का यथार्थ ही वह संगीत बनकर उभरता है जिससे कल्पना का वह रक्तिम गुलाब प्रस्फुटित होता है।

'महिला महत्त्व' में प्रकाशित दस कहानियों में ऐतिहासिक कथानक वाली तीन कहानियों के साथ-साथ सभी सात कहानियाँ समाज की नारी-केंद्रित समस्याओं से संबद्ध है। सभी कहानियों में भारतीय नारी की अस्मिता एवं चरित्रादर्श को आलोकित करने का प्रयास है, जिसे कथासंग्रह का शीर्षक स्पष्टतः रेखांकित करता है (यद्यपि

यह शीर्षक लेखक के एक मित्र के विशेष आग्रह पर रखा गया था : लेखक द्वारा चयित शीर्षक था—'वीणा')। यही शीर्षक (वीणा) इस संग्रह की पाँचवीं कहानी का है। कहानी का वाचक वीणा से प्रेम करता है, पर उसे तब पाता है जब वह काशी में विधवा का जीवन बिता रही है। बलपूर्वक जब वह उसे अपनाना चाहता है तो वह कश्ती से गंगा में कूदकर जान दे देती है। कथा-नायक भी आत्मग्लानि में उसका अनुसरण करता है। छठी कहानी "विचार-चित्र" का अंत भी आत्मग्लानि और पश्चाताप से ही होता है। वाचक का एक मित्र स्टेशन पर मिलता है और एक सुंदरी अपरिचिता के प्रति कुत्सित भाव प्रकट करने के कारण वाचक की झिड़की खाकर बाद में उससे अपनी मनोग्लानि अभिव्यक्त कर अपना अंतस्ताप मिटाता है। सातवीं कहानी — 'हतभागिनी चंद्रतारा' — का कथानक पिछली दो कहानियों की तुलना में दीर्घतर है। "वीणा" की ही तरह इस कहानी का अंत भी प्रेमी-प्रेमिका—जो विवाह के बाद भी, पहली बार गाँव के एक मेले में मिलते हैं — दोनों की आकस्मिक मृत्यु से होता है। शिल्प की दृष्टि से भी यह कहानी पिछली दोनों कहानियों से अधिक सफल लगती है। उन कहानियों में जहाँ वाचक स्वयं एक चरित्र है, इस कहानी में सर्वज्ञ एवं पात्रेतर स्वर में कहानी कही गई है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि प्रथम तीन ऐतिहासिक कहानियों में भी शिल्प का ऐसा ही सौष्ठव एवं अधिकार दृष्टिगोचर होता है।

'प्रायश्चित्त' संग्रह की आठवीं कहानी है। 'वीणा' और 'विचार-चित्र' की ही तरह यह कहानी भी आकार में छोटी तथा उत्तम पुरुष शैली में वाचित है। इस कहानी में ट्रेन में एक गोरा एक विवाहिता को जनाने डब्बे में अकेले पाकर उसके साथ बलात्कार करता है, और जब पति (वाचक) उसे ढूँढ़ता हुआ आता है तब गोरे से उसकी पिस्तौल छीनकर पत्नी आत्महत्या कर लेती है। यही उसका प्रायश्चित्त है। इसी चरम-बिंदु पर पहुँचकर कहानी समाप्त होती है। इस संग्रह की अंतिम दो कहानियाँ हैं 'हठभगतजी' तथा 'अनूठी अँगूठी'। 'तूती-मैना' और इन दो कहानियों के विषय में लेखक ने 'महिला-महत्व' की भूमिका में लिखा है — इन तीन अख्यायिकाओं को "मैंने कानों-सुनी घटना के अनुरूप" लिखा है। हालांकि शेष सभी कहानियों के विषय में भी लेखक का दावा है कि उनकी कथावस्तु लेखक को सच्ची घटनाओं से ही मिली है चाहे वे ऐतिहासिक हों या सामाजिक।

'हठभगतजी' कहानी भी कथन और शिल्प — दोनों ही दृष्टियों से 'हतभागिनी चंद्रतारा' से तुलनीय है। कथा-नायक "लाला सजीवनदास ऐसे-वैसे हठ-भगत नहीं हैं", जो एक बार ठान लेते हैं उससे "एक इंच भी नहीं डिगते"। अपनी पुश्तैनी फुलवारी में जो ठाकुरबाड़ी बनवा रहे थे, उस दौरान एक-एक कर परिवार के सभी सदस्य — दोनों बेटे, बहू, पत्नी, पौत्र — सभी काल-कवलित हो गये, सब लोग

उन्हें ठाकुरबाड़ी-निर्माण में विघ्न के कारण काम बंद करा देने की सलाह देते रहे, पर पूर्णतः अविचलित सजीवनदास अपने प्रण पर अटल रहे, और मंदिर में प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा के बाद उन्होंने फिर घर बसाया। पुत्र-पौत्र से फिर उनका आंगन नंदनोद्यान-सा शोभित हो उठा ! ईश्वरीय सत्ता में हठभगतजी की निष्कंप आस्था इन शब्दों में व्यक्त हुई है "वे भगवद्भक्त भला कैसे थे, जिनकी कीर्त्ति-लतिका आज भी विश्व-विटपी पर आकाश-वल्लरी की तरह छाई हुई है? क्या उन्होंने पारिवारिक प्रेम-रूपी तुच्छ काँच के पीछे ईश्वर-प्रेम-रूपी अमूल्य मणि का त्याग कर दिया था ? नहीं, यदि ऐसा करते तो उनकी कीर्त्ति-गाथा आचंद्रतारक अमर नहीं होने पाती।"

'महिला-महत्व' की अंतिम कहानी है - "अनूठी अंगूठी"। इसके कथानक का थोड़ा साम्य 'हतभागिनी चंद्रतारा' से इस तरह है कि दोनों कहानियों में प्रेमी-प्रेमिका की भेंट एक मेले में होती है, यद्यपि इस कहानी में प्रेम की परिणति सुखांत अभिसार में होती है, मृत्युजन्य पार्थक्य में नहीं। दूसरी ओर जहाँ पहली कहानी में प्रेमी-प्रेमिका पति-पत्नी हैं, इस कहानी में कथाकार ने इसे सायास संशयात्मक रखा है। साथ ही इस कहानी में स्वयं वाचक ही प्रेमी-पात्र है। अभिसार के चित्रों में प्रेम-संबंध को अस्पष्ट और अपरिभाषित छोड़कर कथाकार ने उनकी रूमानियत के कोमल रंगों को उभारा है।

इस प्रकार यद्यपि 'महिला-महत्व' की कहानियों में "मुंडमाल" को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है, शेष वैसी सभी कहानियों में — जो सामाजिक परिवेश से उद्भूत हैं—"अनूठी अंगूठी", "तूती मैना" और "हतभागिनी चंद्रतारा" को हम क्रमशः अधिक सफल कहानियों के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। इन सभी कहानियों का रचना-काल 1911 से 1917 है जो आधुनिक हिन्दी कहानी का शैशव-काल था। प्रेमचंद की कुछ ही कहानियाँ प्रकाशित हुई थीं। 'तूती मैना' और राजा राधिकारमण की 'कानों में कंगना' लगभग एक ही साथ लिखी कहानियाँ हैं। दोनों कहानियों के कथानक में आश्चर्यजनक साम्य है, और दोनों ही कहानियों का निरूपण काव्यात्मक है, परंतु जहाँ "तूती मैना" में एक काव्य-कथा की अन्विति अपना प्रभाव उत्पन्न करती है, "कानों में कंगना" में वह अन्विति कथानक के प्रसरण में अपेक्षया शिथिल हो जाती है। दूसरे शब्दों में जहाँ "तूती मैना" का प्रभाव उसकी काव्यात्मक अन्विति में है, जिससे वह एक गीति-कथा जैसा प्रभाव उत्पन्न करती है, वहाँ 'कानों में कंगना' का प्रभाव उसकी काव्यात्मक अन्विति के कारण, बल्कि उसके बावजूद — उसके कथानक–प्रसरण से उत्पन्न होता है। और इसलिए सुस्पष्ट समानताओं के होते हुए, लगभग एक जैसे मार्ग पर चलकर भी दोनों कहानियाँ अलग-अलग गंतव्यों पर पहुँचती हैं।

सामाजिक और ऐतिहासिक यथार्थ से उत्प्रेरित होते हुए भी 'महिला महत्व' की सभी कहानियाँ काव्यात्मकता में पगी हुई हैं। संभवतः इसलिए कि जिन आदर्श मूल्यों का अन्वेषण और प्रतिपादन लेखक को अभीष्ट है उसके लिए लेखक की ललित काव्यात्मक शैली सर्वोपयुक्त एवं युगानुकूल है। काव्यात्मकता का यह केंद्रीय तत्व जहाँ-जहाँ इन कहानियों में यथार्थवादी गद्यात्मकता एवं घटना-विन्यास में घुलामिला है, वहाँ कहानी का प्रभाव खंडित हुआ है, और कहानी बिखर गई है। इसी दृष्टि से 'मुंडनाल' इस संग्रह की सर्वोत्कृष्ट कहानी है। कथानक, घटना-विन्यास, कथासूत्र (शौर्यादर्श), चरित्रांकन, शैली — सभी तत्व कहानी की अन्विति को एकमेक हो पुष्ट करते हैं।

'विभूति' में इन दस कहानियों में जो छः कहानियाँ और सम्मिलित हुईं उनमें 'बुलबुल और गुलाब' को छोड़कर (जो सबसे अंतिम प्रकाशित और अनूदित कहानी थी, जिसकी चर्चा की जा चुकी है) पाँच मौलिक कहानियाँ थीं। इनमें "शरणागत-रक्षा" पुनः एक ऐतिहासिक कथा पर आधारित कहानी थी। इस खेप की कहानियों में "खोपड़ी के अक्षर" तथा "कुंजी" का प्रकाशन 1923-24 में ही हुआ। निश्चय ही 'महिला-महत्व' जब 1922 में प्रकाशित हुआ था, उस समय तक ये दोनों कहानियाँ लिखी नहीं गई थीं, अथवा अधूरी थीं। इससे स्पष्ट है कि 'महिला-महत्व' की सभी कहानियाँ 'मारवाड़ी सुधार' के संपादन-काल के पूर्व लिखी गई थीं, और नये खेप की ये पाँच कहानियाँ शिवजी के कलकत्ता-प्रवास के दौरान लिखी गई थीं। (अंतिम अनूदित कहानी "बुलबुल और गुलाब" की रचना 1932 में काशी में हुई, जो उसी वर्ष 'जागरण' में प्रकाशित हुई थी।) यही कारण है कि नई खेप की इन पाँच कहानियों की संरचना और शिल्प में एक विकसित कला-दृष्टि एवं एक संतुलित, विधानुकूल शैली स्पष्ट दिखाई पड़ती है। आधुनिक हिन्दी कहानी ने पिछले एक दशक में विकास का एक महत्त्वपूर्ण चरण पार कर लिया था और भाषा-शैली तथा शिल्प — दोनों ही दिशाओं में विस्मयजनक प्रगति की थी। नये खेप की शिवजी की इन कहानियों में भी इस द्विविध विकास की स्पष्ट झलक मिलती है।

"खोपड़ी के अक्षर" अपेक्षया लंबी कहानी है — सभी सोलह कहानियों में सबसे लंबी — और इसका कथा-विस्तार एक लघु-उपन्यास के आकार की माँग करता प्रतीत होता है। एक निस्संतान जमींदार अपने परम विश्वासपात्र मुंशीजी के बेटे को अपने पुत्र की तरह प्यार से रखते हैं, क्योंकि उन्हें केवल एक पुत्री है; पुत्र की कामना अब तक पूरी नहीं हुई है। केदार और वसुंधरा बचपन से साथ-साथ बढ़े हैं। एक सिद्ध साधु की जड़ी के प्रभाव से जमींदार लाला हरप्रसाद को अंततः एक पुत्र की प्राप्ति होती है — जिसकी दीर्घायु के लिए वे उसे पाँच कौड़ियों में खरीदते हैं। पंचकौड़ी की शिक्षा केदार के अभिभावकत्व में होने लगती है। बी.ए.

पास केदार की शादी लालाजी बड़े धूमधाम से करते हैं। नई बहू रामप्यारी लालाजी के परिवार की बहू का प्रेम और सम्मान पाती है, और वसुंधरा की तो वह मुंहबोली चहेती बन जाती है। धीरे-धीरे वह केदार के प्रति वसुंधरा के मन में छिपे प्रेम को भांप लेती है। दोनों के बीच एक खिंचाव उभरने लगता है। वसुंधरा एक पत्र लिखकर अपने मनोभाव केदार पर प्रकट करती है, और पत्रोत्तर से केदार उसे समझाता है। साथ ही वह अपने सहपाठी से वसुंधरा का विवाह तय करा देता है। इसी बीच वसुंधरा के प्रति अपनी पत्नी के व्यवहार से क्षुब्ध होकर केदार उसके प्रति उदासीन रहने लगा है। वसुंधरा के विदा हो जाने के बाद भी केदार उसे भूल नहीं पाता।

'खोपड़ी के अक्षर' का प्रकाशन 'उपन्यास तरंग' नामक मासिक पत्रिका में हुआ था, कुछ दिनों तक 'मतवाला' से अलग होने के बाद शिवजी जिसका संपादन करते थे। स्पष्टतः पत्रिका के लघु-उपन्यासिका-स्वरूप ने इस कहानी के आकार-प्रकार को निर्धारित किया था। परिणामतः इस कहानी में उपन्यास के सभी तत्व उसी अनुपात में दिखाई पड़ते हैं। कथोपकथन, मनोविश्लेषण, कथानक-संरचना, चरित्र-चित्रण — कहानी के सभी अवयवों पर औपन्यासिक शिल्प का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। फिर भी इसे एक असफल उपन्यासिका की कोटि में डालना इस कहानी के साथ न्याय नहीं होगा। अपनी संपूर्णता में इस कहानी की प्रभावान्विति इसकी विधागत पहचान को टूटने नहीं देती, और इसी में इस कहानी की सफलता निहित है।

"कुंजी" ठीक इसके विपरीत लेखक की सबसे छोटी कहानी है, और यद्यपि शिवजी की कहानियों में इसकी चर्चा बहुत कम हुई है, शिल्पगत कसाव की दृष्टि से यह उनकी सफलतम तीन-चार कहानियों में एक है। इस कहानी का प्रारंभ एक नाटकीय क्षण से होता है "अगर मौके से टैक्सी-मोटर न मिल जाती तो समझ लीजिए कि गाड़ी छूट ही चुकी थी"। निश्चय ही कहानी-कला के शिल्प की दृष्टि से इस कहानी में शिवजी की कहानी-कला अपने उत्कर्ष के उच्चतम शिखर को छू रही थी। कहानी का प्रारंभ हावड़ा स्टेशन पर एक संन्यासी से एक युवक (वाचक) की भेंट से होता है। ट्रेन में युवक बताता है कि वह एक सेठ का मुनीम है, जो काशी में मरणासन्न है, और तार पाकर वह वहीं जा रहा है, इस आशा के साथ कि मरते-मरते सेठ की कुछ संपत्ति उसके हाथ भी लग जायेगी। इस पर संन्यासी युवक को अपने सन्यास की कहानी बताता है कि कैसे उसके पिता जब अचानक मर गये तो चिता पर उनका अग्नि-संस्कार उसे ही करना पड़ा, और चिता जब आधी जल चुकी थी तभी उसके बड़े चाचा को याद आया कि तिजोरी की कुंजी तो कमर के धागे में ही बँधी रह गई थी। तुरन्त छोटे चाचा ने चिता बिखेर कर आग में लाल हुई कुंजी को निकाल लिया और उसे ठंढा करने के लिए धूल में ढक दिया। उसी कुंजी ने संन्यासी के ज्ञान-चक्षु खोल दिये। निश्चय ही शिवजी की यह कहानी आधुनिक

कथा-शिल्प की कसौटी पर सोलह आने खरी उतरती है, और इसे एक श्रेष्ठ कहानी के रूप में स्वीकृत होना चाहिए।

'मानमोचन' कहानी का स्वरूप संवाद-शैली में एक निबंध का है जिसमें पति-पत्नी खड़ी बोली और बज्रभाषा-काव्य की तुलना कर सोदाहरण तर्क-वितर्क से एक से दूसरे की श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, और कहानी का अंत होता है ब्रजभाषा-प्रेमी पत्नी का खड़ी बोली समर्थक पति के मधुरालिंगन के समझौते में! अपने युग में जब काव्य-भाषा की यह प्रेमिल नोंक-झोंक साहित्यकारों के लिए मनोविनोद का एक प्रसंग प्रस्तुत करती थी, इस कहानी की बड़ी प्रशंसा हुई थी। 'समालोचक' (जिसमें यह रचना फरवरी, 1925 में प्रकाशित हुई थी) के संपादक पं. कृष्णबिहारी मिश्र ने शिवजी को अपने एक पत्र (27.2.25) में लिखा — "आपके मानमोचन लेख को लोगों ने बहुत पसंद किया है! पं. रूपनारायणजी को वह बहुत पसंद रहा है . . . बाबू श्यामसुंदर दासजी को तो समालोचक में प्रकाशित सभी लेखों में आप ही का लेख सबसे अधिक पसंद आया है।" ध्यातव्य है, मिश्रजी ने इस रचना को कहानी नहीं, लेख ही माना, और उन्होंने ही इसके मूल-शीर्षक 'मान भंजन' को शिवजी से पूछकर 'मानमोचन' में बदला था।

'शरणागत-रक्षा' भी ऐतिहासिक कथानक पर रचित शिवजी की चौथी और अंतिम कहानी है। शिल्प की दृष्टि से यह अन्य तीन ऐतिहासिक कहानियों से अधिक विकसित मानी जा सकती है। घटनाओं का संयोजन एवं निदर्शन, कथोपकथन की नाटकीय स्फूर्ति, चरित्र एवं वातावरण का दक्ष रूपांकन, और प्रभावशाली एवं ओजस्वी उपसंहार इसे एक श्रेष्ठ कहानी के रूप में स्थापित करते हैं। दरबारियों और हरम की बेगमों के साथ पठान सम्राट अलाउद्दीन विंध्यकानन में आखेट पर है। जलक्रीड़ा के लिए निकली बेगमें आंधी में गिरती-पड़ती बदहवास, खेमों में वापस पहुँचती हैं, पर नई बेगम लापता है। वह मिलती है ढूँढ़नेवाले घुड़सवारों के सरदार को वहीं तालाब के पास, अर्द्धनग्न, काँपती हुई। स्थिति का लाभ उठाकर वह सरदार की अंकशायिनी बन जाती है। वापस दिल्ली में यमुना में नौका-विहार करते हुए बादशाह को बेगम से यह राज़ मालूम हो जाता है, और बेगम और सरदार कैदखाने में डाल दिये जाते हैं। पर रिश्तेदार कोतवाल की मदद से दोनों भाग निकलते हैं, और महाराणा हम्मीर के यहाँ शरण पाते हैं। अलाउद्दीन चित्तौड़गढ़ पर चढ़ाई कर देता है और शरणागत यवन सरदार की रक्षा करने में सरदार के साथ महाराणा हम्मीर भी वीरगति को प्राप्त होते हैं। भारतीय शौर्य एवं शरणागत-रक्षा के उच्चतम आदर्श को यह कहानी अत्यंत उदात्तता एवं प्रभविष्णुता के साथ प्रतिपादित करती है।

'कहानी का प्लाट' 1928 की रचना है, और उसी वर्ष श्रावण-अंक में 'सरोज' में छपी थी जिसका संपादन 'मतवाला' से अलग होने के बाद मुंशी नवजादिक लाल

श्रीवास्तव कर रहे थे। वह शिवजी की अंतिम मौलिक कहानी है जिसे हिन्दी की श्रेष्ठतम कहानियों में गिना जाता है। निस्संदेह शिवजी की कहानी कला इस कहानी में अपनी पराकाष्ठा प्राप्त कर लेती है। यह शिवजी की सर्वाधिक चर्चित और पठित कहानी ज़रूर रही है—किन्तु जैसी पाठ्यक्रमित रचनाओं की नियति होती है, व्याख्यानों एवं उत्तर-पुस्तिकाओं में अत्यधिक चर्चित होकर ही उनकी सार्थकता प्रायः समाप्त मान ली जाती है। शिवजी ने कुल पंद्रह ही मौलिक कहानियाँ हिन्दी को दीं, किन्तु यदि उनमें तीन भी चिरस्मरणीय एवं शाश्वत महत्त्व की हैं तो यह सफलता का विस्मयकारी अनुपात है। यह कहने में कोई संकोच नहीं कि हिन्दी को ऐसी तीन अविस्मरणीय कहानियाँ देने वाले कहानीकार का भी कहानीकार के रूप में जैसा गंभीर विवेचन होना चाहिए था, वैसा अब तक नहीं हो सका है।

'कहानी का प्लाट' उसी अंचल की कहानी है जिसमें पलकर शिवजी लेखक बने थे। यह वही अंचल है जहाँ शिवजी की 'देहाती दुनिया' बसी है। उल्लेखनीय है कि 'देहाती दुनिया' का रचना-काल 1921-26 है, और एक बार पाँच फर्मे छपने के बाद अंततः उसका प्रकाशन पुस्तक-भंडार से 1926 में हुआ था। शिवजी तब तक कलकत्ता छोड़कर काशी आ गये थे, और 'देहाती दुनिया' के प्रकाशित होने के दो वर्ष बाद 'कहानी का प्लाट' की रचना हुई। 'देहाती दुनिया' कलकत्ते में लिखी गई थी और "कहानी का प्लाट" काशी में लिखा गया। फिर भी पहली नज़र में ही लगता है कि दोनों रचनाओं का सामाजिक परिवेश एक है। दोनों ही रचनाओं का परिवेश वाचक के गाँव का है। दारोगा का चरित्र दोनों ही रचनाओं में काफी मिलता-जुलता-सा है। मुंशीजी और भगजोगनी भी उसी परिवेश से उभरे हुए चरित्र लगते हैं। भगजोगनी के चरित्र में भी शुरू में रामसहर की बुधिया की झलक मिलती है। ऐसा लगता है भगजोगनी की कहानी भी वहीं से उपजी है जहाँ 'देहाती दुनिया' का संसार बसा है।

कहानी का प्रारंभ वाचक के प्रगल्भ वक्तव्य से होता है कि वह कोई कहानी-लेखक तो नहीं है, पर उसे कहानी का एक प्लाट अपने ही गाँव में मिल गया है जिस पर कोई कुशल कहानी-लेखक चाहे तो कहानी की अपनी भड़कीली इमारत खड़ी कर ले। और यह प्लाट ही पूरी कहानी है। 'कहानी का प्लाट' शिल्प की दृष्टि से एक अत्यंत उत्कृष्ट रचना है जिसमें शिल्प का प्रयोग काफी संश्लिष्ट है। प्रत्यग्दर्शन (फ्लैश बैक) की तकनीक का बड़ा ही सफल एवं सशक्त प्रयोग इस कहानी में हुआ है। वाचक ही कहानी का केंद्रीय चरित्र है जिसकी आँखों से हम सब कुछ अतीत में घटित होते देखते हैं। उसके गाँव में एक मुंशीजी थे जिनके बड़े भाई अंग्रेज़ी राज में दारोगा थे और जिनके ज़माने में "मुंशीजी ने भी खूब घी के दीये जलाये थे"! लेकिन "दारोगाजी के मरते ही सारी अमीरी घुस गई। जो

जीभ एक दिन बटेरों का शोरबा सुड़कती थी, वह अब सराह-सराह कर मटर का सत्तू सरपोटने लगी"। गरीबी के दुर्दिन में मुंशीजी की पत्नी एक बेटी को जन्म देकर चल बसी। वाचक उसके लिए एक कल्पित नाम बताता है — 'भगजोगनी'। मुंशीजी की गरीबी में वह "दाने-दाने को तरसती रहती" — "एक ओर उसकी अनूठी सुघराई और दूसरी ओर उसकी दर्दनाक गरीबी"। किन्तु उस 'सुंदरता सुकुमारी' का विवाह मुंशीजी अपनी बिरादरी में रोने-गिड़गिड़ाने के बाद भी तिलक-दहेज के अभाव में नहीं कर पाये। हार कर मुंशीजी ने 'छाती पर पत्थर रखकर अपनी इस राज-कोकिला' का हाथ 'इकतालिस-बयालिस साल' के एक अधबूढ़े के हाथ में दे दिया। — "आखिर वही महाशय डोला काढ़कर भगजोगनी को अपने घर ले गये और वहीं शादी की"। "छाती से पत्थर का बोझ" उतरते ही "देह लच गई", "साल पूरा होते-होते अचानक टन बोल गये"। किस्सा-कोताह यह कि "आज भगजोगनी पूर्ण युवती है", और उसका "दूसरा पति है — उसका सौतेला बेटा"!

शिल्प का जैसा संश्लिष्ट एवं कलात्मक प्रयोग "कहानी का प्लाट" में मिलता है, उनकी अन्य किसी कहानी में तो नहीं मिलता, उनके समकालीन कहानीकारों की कहानियों में भी शिल्प का ऐसा कुशल प्रयोग संभवतः अप्राप्य है। पूरी कहानी की रूप-संरचना — कथानक, शैली, चरित्र, उद्देश्य एवं दृष्टि-बिंदु के विभिन्न अन्यून वृत्तों की सकेंद्रीयता से संघटित हुई प्रतीत होती है। अलग-अलग वृत्तों में भी ये विभिन्न शैल्पिक तत्व अपने-अपने में संपूर्ण हैं, किन्तु न केवल ये सभी तत्व समकेंद्रित हैं, वरन् पूर्णतः समवृत्तीय भी हैं। जैसे, अलग-अलग रंगों के पारदर्शी वृत्तों को हम यदि एक ही केंद्र और परिधि पर अतिव्याप्त (सुपरइंपोज्ड) देखें तो एक अद्भुत, अगोचर आभा की अनुभूति होगी, कुछ वैसा ही प्रभाव कहानी की शैल्पिक संश्लिष्टता का हम पर पड़ता है। दृष्टि-बिन्दु, जो आधुनिक कथा-साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तकनीकी तत्व है, इस कहानी में उसका भी अत्यंत सूक्ष्म प्रयोग हुआ है। वाचक स्वयं एक गहन दृष्टि-बिंदु है — एक संपूर्ण वृत्त है जिसकी स्मृति में, और अनुभूति में, पूरा कथानक घटित होता है। अतीत और वर्तमान के क्रूर, विडंबनात्मक विरोधाभास को हम दृष्टि-बिन्दु के एक ही समकालिक क्षण में देख पाते हैं। कथानक का ऐसा प्रस्तुतन ही कहानी के अंतिम प्रभाव का मूलाधर प्रतीत होता है। इस प्रकार दृष्टि-बिन्दु और कथानक के दो वृत्त पूरी तरह समवृत्तीय हो जाते हैं। ऐसी ही समवृत्तीयता कहानी के और तत्वों में भी देखी जा सकती है। चरित्र इस कहानी में तीन ही हैं— वाचक, मुंशीजी और भगजोगनी। शेष नामोल्लिखित चरित्र इनके अनुषंग-मात्र हैं। इन तीन चरित्रों में ही शेष सभी चरित्र संपृक्त हैं। और वाचक यदि दृष्टि-बिंदु और कथानक पर संकेंद्रित है, तो मुंशीजी और भगजोगनी के चरित्र भी वाचक के चरित्र में सन्निविष्ट हैं। शैली और उद्देश्य भी इसी प्रकार कहानी में संकेंद्रित हैं। शैली और

उद्देश्य के अंतर्गत ही हम कहानी के प्रारंभ और अंत का नाटकीय विरोधाभास देख सकते हैं। प्लाट को कहानी का रूप नहीं दे सकने की अक्षमता का छद्म ही कहानी के अंत की आत्यंतिक प्रभविष्णुता को सृजित करता है। नाटकीय विडंबना का ऐसा शैल्पिक प्रयोग शिवजी के समकालीन कहानीकारों में अन्यत्र भी मिल सकेगा, पर नाटकीय विडंबना के प्रयोग की जैसी तेज धार इस कहानी में दृष्टिगोचर होती है, वह बेमिसाल लगती है। विडंबना और कूटोक्ति इस कहानी की शैली के प्राण-तत्व हैं, और कहानी के आधार-बिंदु अथवा उद्देश्य को पूरी तरह सिद्ध करते हैं। दूसरे शब्दों में शैली और उद्देश्य भी इस कहानी में पूर्णतः समवृत्तीय हैं। निश्चय ही संश्लिष्ट शिल्प को इतनी उत्कृष्टता से उदाहृत करनेवाली यह एक कहानी भी शिवजी को हिन्दी के एक अमर कथाकार के रूप में स्मरणीय बनाने के लिए पर्याप्त है, क्योंकि किसी विधा में किसी रचनाकार की उपलब्धि का मूल्यांकन हम उसकी श्रेष्ठतम रचना से ही करें, यही उचित है।

'कहानी का प्लाट' की रचना शिवजी की एकमात्र औपन्यासिक कृति 'देहाती दुनिया' के बाद हुई थी। यों 'देहाती दुनिया' का प्रथम लेखन और आंशिक मुद्रण तो 1921-22 में ही हुआ था, जिसके कुछ दिन बाद शिवजी 'मतवाला' से अलग होकर लखनऊ, 'माधुरी' के संपादन विभाग में चले गये थे। अपूर्ण उपन्यास के आगे के कई परिच्छेद लखनऊ-प्रवास में लिखे गये, पर दंगे में शिवजी जब लखनऊ से भागे तो वह पांडुलिपि भी और बहुत सारी महत्त्वपूर्ण सामग्री के साथ वहीं छूट गई जो फिर मिली नहीं। लखनऊ से फिर वापस कलकत्ता जाने पर शिवजी इतने अस्त-व्यस्त रहे कि 'देहाती दुनिया' के पूर्व-मुद्रित फर्मों के बाद वे उसको वहाँ पूरा नहीं कर सके, और अंततः 1926 के प्रारंभ में काशी आने के बाद ही वह उपन्यास पूरा हुआ और वहीं से छपकर पुस्तक-भंडार से प्रकाशित हुआ, जिसकी पुस्तकों के संपादन-प्रकाशन की व्यवस्था अब शिवजी की देखरेख में वहीं ज्ञानमंडल प्रेस से होने लगी थी। 'देहाती दुनिया' की भूमिका में शिवजी ने इन बातों की विस्तार से चर्चा की है। यहाँ यह रेखांकित करना अभीष्ट है कि अपने कहानी-लेखन को एक कलात्मक उत्कर्ष तक पहुँचाने के बाद शिवजी ने उससे लगभग विदा ले लिया था, और उससे अर्जित अनुभव का उपयोग उन्होंने उपन्यास की समानांतर विधा में 'देहाती दुनिया' में किया। 'देहाती दुनिया' के बाद उन्होंने मौलिक केवल एक ही कहानी लिखी—'कहानी का प्लाट' क्योंकि 'बुलबुल और गुलाब' एक अनूदित कहानी थी जो 'जागरण'-संपादक के रूप में उन्होंने 1932 में उस पत्र में छापी थी। इसीलिए 'देहाती दुनिया' के पाठक को "कहानी का प्लाट" का पूरा प्रसंग उस औपन्यासिक कृति के सृजनात्मक परिवेश से अभिन्न प्रतीत होगा। यह बिलकुल आकस्मिक नहीं कि शिवजी की एकमात्र यही कहानी उनके अपने गाँव की — अथवा उसी के आसपास

के किसी गाँव की कहानी है। वाचक का चरित्र यदि लेखक का अभिनीत चरित्र है, उस स्थिति में भी "कहानी का प्लाट" और 'देहाती दुनिया' — दोनों का वाचक अपना सृजनात्मक अनुभव एक ही परिवेश से प्राप्त करता है, यह निस्संकोच स्वीकार्य प्रतीत होता है।

इस प्रसंग में शिवजी की दैनंदिनी की यह प्रविष्टि ध्यातव्य है — "पं. सरयू पंडा गौड़ आये। रात में भोजनोपरांत एक सच्ची घटना सुनाने लगे। उनके नानिहाल में एक ग़रीब ब्राह्मण गोसाईं जी थे। उन्हीं की सुंदरी युवती कन्या का ब्याह एक बूढ़े से हुआ। दंपति में पचास वर्ष का अंतर था, 18-68। विवाहोपरांत दो-चार दिनों में ही बूढ़ा मरा और वह युवती विधवा हो गई। . . . उस बेचारी को दो नर-पिशाचों ने गर्भवती बनाया। उसकी जवानी को चौपट करने वाले स्वार्थांधों ने और उसकी दयनीय दरिद्रता ने उसके रूपयौवनसंपन्न शरीर को असमय में ही मौत के हवाले कर दिया। पंडाजी से मैंने अपनी लिखी कहानी की चर्चा करते हुए कहा - 'कहानी का प्लाट' मैंने ऐसी ही घटना पर लिखा था। पूर्वोक्त कहानी से वह मिलती-जुलती-सी कहानी है। ऐसी-ऐसी सैकड़ों दुखद दुर्घटनाएँ देश में नित्य हो रही हैं। हिन्दू-समाज चेतता नहीं।" (16.3.59)।

आधुनिक हिन्दी कहानी के विकास में अक्सर प्रसाद और प्रेमचंद से निस्सृत दो विशिष्ट धाराओं की चर्चा होती है। कहानी की विधा में शिवजी की दोनों श्रेष्ठ रचनाएँ — 'मुंडमाल' और 'कहानी का प्लाट' क्रमशः इन दो धाराओं की श्रेष्ठ कृतियों के रूप में सदा स्मरणीय रहेंगी, इसमें कोई संदेह नहीं।

'देहाती दुनिया' शिवजी का एकमात्र उपन्यास है। हिन्दी के प्रथम आंचलिक उपन्यास अथवा हिन्दी में आंचलिक कथा-साहित्य की मूलाकृति के रूप में 'देहाती दुनिया' की चर्चा अक्सर होती रही है। किन्तु जब 'देहाती दुनिया' की रचना 1921-22 में हुई थी, उस समय तक और उसके काफी बाद तक भी कथा-साहित्य की एक परिलक्षित प्रवृत्ति के रूप में आंचलिकता की कहीं चर्चा नहीं थी। ऐसा नहीं लगता कि स्वयं शिवजी को सायास कथा-साहित्य में ऐसी किसी सुचिंतित प्रवृत्ति का आविष्कार अभीष्ट था जिससे उपन्यास-लेखन में एक सर्वथा मौलिक विधा का सूत्रपात हो। उन्होंने पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि इस उपन्यास की रचना उन्होंने "अपने मन से नहीं", अपने ठेठ देहाती मित्रों की 'प्रेरणा' से, और उन्हीं लोगों के "मनोरंजन" के लिए लिखी है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि 'मैंने यश का प्रोत्साहन प्राप्त करने के लिए यह पुस्तक नहीं लिखी है, लिखी है केवल स्वांतः सुखाय"। उनका उद्देश्य एक ऐसा उपन्यास लिखना था जिसका परिवेश और कथा-संसार ही नहीं, वरन् जिसकी भाषा भी उनके ठेठ देहाती मित्रों के जीवन के निकटतम हो। अर्थात उपन्यास की विधा में यह एक ऐसा साहसिक प्रयोग था ("इस

पुस्तक को लिखते समय मैंने साहित्य-हितैषी सहृदय समालोचकों के आतंक को जबरदस्ती ताक पर रख दिया था") जिसकी सार्थकता एक विशिष्ट पाठक-वर्ग की अभिरुचि से निर्धारित हुई थी। यहाँ एक ग्रामीण अंचल-विशेष का सांगोपांग यथार्थवादी चित्रण अभिजात, सुशिक्षित नगरीय पाठक-वर्ग के मनोरंजन अथवा कुतूहल-शमन के लिए नहीं किया गया था। यह तो एक अभिनव प्रयोग था ग्रामीण जनता की भाषा में, ग्रामीण जीवन की समस्याओं के विषय में, उससे सुपरिचित पाठक-वर्ग का मनोरंजन और सचेतन। भविष्य के आंचलिक उपन्यासों में किसी अंचल-विशेष के आंचलिक चरित्र को यथार्थवादी स्वरूप प्रदान करने का मुख्य अवलंबन भाषा को बनाया गया, किन्तु कथानक, चरित्र और घटनाओं का निरूपण-विश्लेषण बहुधा एक अभिजात, नगरीय चेतना से प्रभावित रहा। दूसरे शब्दों में आगे लिखे जाने वाले ये आंचलिक उपन्यास ज्यादातर शहर के हल्के रंगीन चश्मे से गाँव के जीवन को देखने और आंचलिक भाषा के रंगों से बनी एक तस्वीर नगरीय, अभिजात पाठक-वर्ग के सामने रखने के प्रयास थे। अपने एक अप्रकाशित निबंध में हिन्दी के प्रखर आलोचक श्री दूधनाथ सिंह ने इसी बात को रेखांकित किया है — "हिन्दी में इस अंतर्वस्तु और इस तरह के मुक्त शिल्प को अपनाकर उसके बाद कोई दूसरी रचना नहीं लिखी गई। जैसे शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' की 'बहती गंगा' का कोई दूसरा 'मॉडल' हिन्दी में नहीं है, उसी तरह 'देहाती दुनिया' भी अपने ढंग की अकेली औपन्यासिक कृति है।"

शिवजी गाँव के लोगों को एक आइना दिखाना चाहते थे जिसमें वे लोग अपनी ही सच्ची तस्वीर देख सकें। बीसवीं सदी के प्रारंभ में गाँवों को अपनी क्रूर चक्की में पीसने वाली, अंग्रेजों द्वारा पोषित, सामंती व्यवस्था; अज्ञान, अंधविश्वास और दरिद्रता के अंधकूप में नारकीय जीवन जीने को विवश ग्रामीण जनता; नाना प्रकार की कुरीतियों से ग्रस्त ग्रामीण समाज — इसी का अक्स अपने उपन्यास के आइने में खींचना और उसे उजागर करना, ताकि उस भयावह तस्वीर को बदला जा सके— यही उद्देश्य था इस उपन्यास को लिखने का। जो बीमार हैं, उनको उनकी बीमारी का सही-सही एहसास कराना ही अभीष्ट था, और इसीलिए उन्हीं लोगों की भाषा में यह एहसास पैदा कराया जा सकता था। अपनी भूमिका में शिवजी ने लिखा है कि वह अपना उपन्यास ऐसी भाषा में लिखना चाहते थे जिसे "ठेठ-से-ठेठ देहाती या एकदम अपढ़ गंवार भी बिना किसी की सहायता के उसका एक-एक शब्द समझ ले, निरक्षर हलवाहे और मजदूर भी बड़ी आसानी से उसकी हर-एक बात को अच्छी तरह समझ जाये।" भाषा यहाँ उस पाठक-वर्ग से सीधा संवाद स्थापित करने का माध्यम थी जिसके अनुभव-संसार का चित्रण करना था; वह साधन थी, साध्य नहीं। आंचलिकता भाषा से सृजित नहीं हुई थी, आंचलिकता ने भाषा का सृजन किया

था। भूमिका की ये पंक्तियाँ इस संदर्भ में उद्धरणीय हैं—'मैं ऐसी ठेठ देहात का रहने वाला हूँ, जहाँ इस युग की नई सभ्यता का बहुत ही धुँधला प्रकाश पहुँचा है। वहीं पर मैंने स्वयं को कुछ देखा-सुना है, उसे यथाशक्ति ज्यों-का-त्यों इसमें अंकित कर दिया है। इसका एक शब्द भी मेरे दिमाग की ख़ास उपज या मेरी मौलिक कल्पना नहीं है। यहाँ तक कि भाषा का प्रवाह भी मैंने ठीक वैसा ही रखा है, जैसा ठेठ देहातियों के मुख से सुना है। अपने व्यक्तिगत अनुभव के बल पर मैं इतना निस्संकोच कह सकता हूँ कि देहाती लोग आपस की बातचीत में जितने मुहावरों और कहावतों का प्रयोग करते हैं, उतने तो क्या, उसका चतुर्थांश भी हम पढ़े-लिखे लोग नहीं करते।" इस उपन्यास की भाषा की भंगिमा और प्रवाह लेखक के "दिमाग की खास उपज" नहीं थे, वे "देहातियों के मुख से" निस्सृत थे। और यहाँ आंचलिक शब्दावली और ध्वन्यांकन से आंचलिक भाषा का सृजन नहीं किया गया था; उसके ठीक विपरीत (पुनः, श्री दूधनाथजी के शब्दों में), 'देहाती दुनिया' का रस उसमें प्रयुक्त लोक-मिथक और लोक-इतिहास का रस है जो इस उपन्यास में प्रयुक्त भाषा और संवाद और वातावरण के चित्रण के भीतर से आता है"।

शिवजी ने आंचलिक उपन्यासों की भाषा के संबंध में 'साहित्य' (जन. '61) की अपनी एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी में आंचलिक उपन्यासों की "भाषा-संबंधी उच्छृंखलता" और "भाषा-शैली की विकृति" के प्रति आंचलिक उपन्यास-लेखकों को सचेत किया था, और लिखा था कि "ऐसे लेखकों में अधिकांश बंधु कथाकार-मात्र हैं, भाषा की प्रकृति के पारखी नहीं। . . . हिन्दी की शैली में जनपदीय शब्दों को खपाने का कौशल प्रत्येक कथाकार के बूते की बात नहीं . . . यह बड़ी गहरी साधना का काम है और कई उपन्यासकारों में ऐसी साधना का अभाव दीख पड़ता है। हिन्दी के साथ विभिन्न आंचलिक अथवा क्षेत्रीय भाषाओं की खिचड़ी पकाकर भाषा का स्वरूप बिगाड़ना बड़ा खतरनाक काम है। . . . हिन्दी में आंचलिक शब्द, मुहावरे, कहावतें आदि खपाई जायँ; पर अंधाधुंध नहीं, पहले उनकी परख हो ले, इस बात पर भी विचार हो ले कि जितनी दूर तक हिन्दी की व्यापकता है, उतनी दूर तक वे चीजें टकसाली बन सकेंगी या नहीं। . . . उपन्यासकार-बंधुओं से हमारा नम्र निवेदन है कि वे अपने को आंचलिक भाषा का केवल 'गढ़िया' ही नहीं, 'जड़िया' भी समझने की कृपा करें।"

जिन दिनों शिवजी लखनऊ में प्रेमचंद की 'रंगभूमि' का भाषा-संशोधन कर रहे थे, वे वहीं 'देहाती दुनिया' की रचना भी कर रहे थे, यद्यपि यह पांडुलिपि दंगे में वहाँ खो गई थी। प्रेमचंद के तीन-चार उपन्यास तब तक प्रकाशित हो चुके थे। प्रेमचंद की भाषा और उनके औपन्यासिक शिल्प से शिवजी भलीभाँति परिचित थे। लेकिन 'देहाती दुनिया' में — भाषा ही नहीं, शिल्प, कथा-संरचना, चरित्र-चित्रण—

सभी पक्षों में एक स्पष्ट विलक्षणता परिलक्षित हो रही थी। इसका कारण था लेखक का विशिष्ट एवं सुचिंतित उद्देश्यः ठेठ देहात का, उसी परिवेश की भाषा में अंकित, एक औपन्यासिक चित्र खींचना। इसी अर्थ में दूधनाथ सिंह के शब्दों में " 'देहाती दुनिया' अपने ढंग की अकेली औपन्यासिक कृति है"। हिन्दी उपन्यास में आंचलिकता का सूत्रपात करने वाली प्रवर्त्तक कृति के रूप में लगभग स्वीकृत यह उपन्यास एक अंचल विशेष (भोजपुर अंचल) का ही नहीं, वरन् बीसवीं सदी के प्रारंभ में भारत के किसी भी गाँव का मूल-चित्र अंकित करता हुआ प्रतीत होता है। थोड़ी गहराई में उतर कर देखने पर इसके कथानक के हर टुकड़े में, और प्रायः हर चरित्र में भारतीय ग्रामीण समाज की मूलाकृति की झलक मिलती है। इस अर्थ में इस उपन्यास में हमें आंचलिकता और सार्वदेशिकता का अद्भुत संयोग दिखाई देता है। जहाँ एक ओर इसकी भाषा इसकी आंचलिकता को रेखांकित करती है, वहीं दूसरी ओर इसका शैल्पिक एवं संरचनात्मक पक्ष इसकी सार्वदेशिकता को प्रतिष्ठित करता है।

आत्मचरित शैली में कथित इस उपन्यास का कथाशिल्प अत्यंत मौलिक एवं प्रयोगधर्मी है। शिशु-चरित्र 'भोलानाथ' कथानक का दृष्टिबिंदु है। रामसहर उसके ननिहाल का गाँव है। उसके नाना ज़मींदार बाबू सरबजीन सिंह के दीवान थे। बाबू सरबजीत सिंह ने एक बीघा खेत के लिए ब्रह्म-हत्या की थी और ब्रह्मदोषी होने के कारण समाज से बहिष्कृत हुए थे। उनके बेटे बाबू रामटहल सिंह का इसी कारण कहीं बिरादरी में विवाह नहीं हो पा रहा था, और घर की मजूरिन बुधिया को उन्होंने अपनी रखेलिन बना लिया था जिससे उन्हें — सुगिया, बतसिया और फुलगेनिया तीन बेटियाँ हुई थीं। बाद में एक गरीब बाबूसाहब मनबहाल सिंह की नवीं बेटी महादेई से रुपये के ज़ोर पर उनकी शादी हुई। मनबहाल सिंह ने इससे पहले भी अपनी आठ बेटियों का विवाह रुपये पर उन्हें बेचकर ही किया था, जिससे वे अपना जीवन-यापन करते थे। सरबजीत सिंह के मरने पर रामटहल सिंह ज़मींदार हुए। उसके कुछ ही दिन बाद भोलानाथ (वाचक) के नाना भी चल बसे, और नानी के बुलावे पर भोलानाथ के पिता बाबू रामटहल सिंह की दीवानी सँभालने अपना परिवार लेकर रामसहर में जाकर रहने लगे। रानटहल सिंह की नवविवाहिता पत्नी महादेई और रखेलिन बुधिया में अब बराबर झगड़े होते रहते। उनके पुरोहित पसुपत पांड़े ब्रह्मदोष के निवारण के लिए उनकी माता से एक हजार रुपये लेकर कमरु-कमच्छा में पूजापाठ के लिए चले गये थे, और इधर पांड़ेजी का लड़का, गोबरधन, हवेली में पूजा-पाठ की ओट में महादेई से रास रचाने लगा था।

ब्रह्मपिसाच के प्रकोप से रामटहल सिंह भी अब बीमार रहने लगे हैं। अवसर पाकर उनके ससुर मनबहाल सिंह बुधिया को फुसलाकर अपने यहाँ ले जाते हैं और उसकी आँखों में धूल झोंककर उसकी बड़ी बेटी सुगिया को एक चोरों के मेठ, बूढ़े

गुदरी राय के हाथ बेच देते हैं। बुधिया वहाँ से अपनी और दो बेटियों को लेकर भाग निकलती है और गुदरी राय के खिलाफ थाने में रपट लिखा देती है, जिसमें उसकी मदद राह में मिला बटोही, सोहावन मोदी करता है, और उसे अपने साथ गाजीपुर ले जाता है जहाँ उसकी मोदी की दूकान है। बुधिया फिर उसी के साथ रहने लगती है।

थाने की रपट के आधार पर दारोगाजी गुदरी राय के घर पर छापा मारते हैं जिसमें गुदरी राय मारा जाता है और थाने में सुगिया को दारोगाजी की अंकशायिनी बनना पड़ता है। इधर चारों धाम की यात्रा के बाद पुरोहित पसुपत पांड़े रामसहर लौटते हैं और ब्रह्म की शांति के लिए रामटहल सिंह की बूढ़ी माँ को चौरा बनाकर उसे बराबर पूजने का विधान बताते हैं। इस बीच गाँव के एक झगड़े में एक खलिहान फूंक दी गई है जिसकी तफ्तीश के लिए वही दारोगाजी आये हैं जिनकी वहाँ दामाद जैसी खातिर होती है। जिस दिन ब्रह्मस्थान का चौरा बनने वाला है, उससे दो दिन पहले अचानक गोबरधन पर ही ब्रह्मपिसाच सवारी कस देता है और उसका ब्रह्म झाड़ने में उसके मामा जुरजोधन तिवारी और गाँव के ओझैतों की भारी दंगल होती है जिसमें ओझैतों की अच्छी कुटम्मस होती है। उपन्यास के अंतिम परिच्छेद में वाचक अपने पिता के साथ अपने गाँव के मूसन तिवारी के भतीजे की बरात में जा रहा है, जहाँ गंवई की बरात का अद्भुत चित्र प्रस्तुत हुआ है, और वहाँ से वापसी में वाचक अपने पिता के साथ अपने गाँव पाँच-छः दिनों के लिए जाता है। वापस रामसहर चलने के दिन वहाँ का हजाम आकर बाबू रामटहल सिंह की चिट्ठी देता है जिसमें एक सनसनीखेज ख़बर है। शाम में भोलानाथ और उसके पिता के रामसहर वापस पहुँचने पर बाबू साहब रो-रोकर बताते हैं कि कैसे गोबरधन महादेई को लेकर भाग गया।

पूरा उपन्यास ग्यारह परिच्छेदों में बंटा हुआ है और प्रत्येक का प्रारंभ एक कहावत या सूक्ति से होता है जो उस कथा-परिच्छेद का भाव-सार प्रस्तुत करती है। प्रत्येक परिच्छेद में एक पूर्ण कहानी की अन्विति भी देखी जा सकती है, यद्यपि सभी परिच्छेद एक रस्सी की सुतलियों की तरह एक-दूसरे के साथ भलीभाँति गुंफित हैं। पहले परिच्छेद में वाचक अपने गाँव में बीते शैशव के मोहक चित्र उपस्थित करता है। दूसरे में, वह रामसहर के जमींदार बाबू सरबजीत सिंह की हवेली से हमारा परिचय कराता है, जो उपन्यास के कथानक का केन्द्र है। तीसरे परिच्छेद में वाचक पुनः अपने गाँव में बीते अपने बचपन का चित्र खींचता है, जिसके अंत में वह हमें बताता है कि वह अपने पिता के साथ अपनी ननिहाल रामसहर जा रहा है, जहाँ अब उसके पिता को सरबजीत सिंह के बेटे रामटहल सिंह की दीवानी की नौकरी मिल गई है। अब पिता वहीं अपनी ससुराल में रह जानेवाले हैं। इस प्रकार पहला और तीसरा

परिच्छेद दूसरे परिच्छेद की मुख्यकथा से जुड़ जाते हैं। चौथे परिच्छेद में फिर दूसरे परिच्छेद की मुख्य कथा आगे बढ़ती है जिसमें रामटहल सिंह की रखेलिन बुधिया से जन्मी सुगिया अपने पति गुदरी राय के मारे जाने पर दारोगाजी के रंगमहल को गुलज़ार करती है। पाँचवें परिच्छेद में कथा-सूत्र पुनः वाचक भोलानाथ के ननिहाल में बीत रहे बचपन की ओर लौटता है, और रामटहल सिंह की नव-विवाहिता पत्नी महादेई के, पसुपत पांड़े के बेटे गोबरधन के साथ हो रहे, रास-रंग की ओर इशारा करते हुए खत्म होता है। छठे परिच्छेद में पसुपत पांड़े की चारों धाम की यात्रा का वर्णन है, किंतु सातवें में पुनः कहानी लौटकर वाचक से आ जुड़ती है, जो पंचमंदिल पर होने वाले पुराण-मंथन का श्रोता ही नहीं, उससे उपजे विवाद में होने वाले माथ-फुड़ौवल और खलिहान की अंगलगी का प्रत्यक्षदर्शी भी है। आठवां परिच्छेद फिर छठे परिच्छेद की पसुपत पांड़े वाली कथा को आगे बढ़ाता है। उसी प्रकार नवां परिच्छेद सातवें परिच्छेद की अगलगी की तफ्तीश के लिए उन्हीं दारोगाजी के रामसहर में आने और दामाद वाली खातिर पाने का चित्र प्रस्तुत करता है। दसवें परिच्छेद में फिर छठे और आठवें की कथा का विस्तार हुआ है जब पसुपत पांड़े के बेटे गोबरधन पर ही ब्रह्मपिशाच का दौरा आता है और ओझैतों के साथ उसके मामा जुरजोधन तिवारी का जबर्दस्त दंगल होता है। अंतिम, ग्यारहवें परिच्छेद में कथासूत्र पुनः वाचक पर केंद्रित हो जाता है जो अपने पिता के साथ एक दूसरे गाँव की बरात से लौटते हुए जब अपने पहले गाँव में कुछ दिन रुकता हुआ फिर रामसहर पहुँचता है तब यह सनसनीखेज बात मालूम होती है कि गोबरधन महादेई को लेकर भाग गया है। इस प्रकार यह बहुत साफ़ है कि पूरी कथा एक मजबूत रस्सी की तरह गुँथी हुई है, जिसको बटने या गूँथने वाला उपन्यास का वाचक भोलानाथ है। गाँव की कहानी पहली बार इस तरह कहने वाले इस उपन्यास का शिल्प भी अगर गाँव में बटी जाने वाली रस्सी की ही तरह सधा हुआ है, तो उसे शत-प्रतिशत सफल मान लेने में कोई कठिनाई नहीं है।

'देहाती दुनिया' अपने औपन्यासिक अनुभव एवं शिल्प में विशिष्ट है। जैसा दूधनाथ सिंह ने लिखा है — "सन् 1926 में लिखे जाने के बावजूद 'देहाती दुनिया' अद्भुत रूप में आधुनिक शिल्प में लिखा गया उपन्यास है। प्रेमचंद ने उस वक़्त तक और उसके बाद भी इस शिल्प का प्रयोग अपने उपन्यास-लेखन में नहीं किया। . . . 'देहाती दुनिया' स्मरण शिल्प में लिखा गया हिन्दी का पहला उपन्यास है। . . . इस तरह के समृद्ध शिल्प की हिन्दी कथा-लेखन में उसके पूर्व कोई परंपरा नहीं है।" हिन्दी उपन्यास के विकास में 'देहाती दुनिया' की विशिष्टता की चर्चा भी आंचलिकता के व्याज से ही प्रारंभ हुई। आंचलिक कथा-साहित्य का जो दौर पाँचवें दशक से प्रारंभ हुआ उसकी समालोचना के जो प्रतिमान बनने लगे उन्हीं

के आधार पर 'देहाती दुनिया' को मूल्यांकित करने के कुछ प्रयास हुए। औपन्यासिक शिल्प की जो धारणा प्रेमचंद-युगीन उपन्यासों से निर्मित हुई थी उसे आंचलिकता के नवप्राप्त दृष्टिकोण से पुनर्परिभाषित करते हुए कुछ समालोचकों ने 'देहाती दुनिया' को मूल्यांकित करने का प्रयास किया। किन्तु आज यह स्वीकार किया जा रहा है कि "संपूर्ण विधा-विकास को मोड़ देनेवाली कृति या अपनी विधा में किसी उत्तेजक रचनात्मक प्रवृत्ति की शुरुआत करनेवाली ऐतिहासिक कृति की जैसी तीखी और बहुविध मीमांसा होनी चाहिए थी — विवेचन और मूल्यांकन होना चाहिए था, वैसा 'देहाती दुनिया' का नहीं हो सका है।" (भृगुनंदन त्रिपाठी, पृ. 2)

'देहाती दुनिया' में शैल्पिक शिथिलता, कथा-संघटन का बिखराव, पात्रानुकूल भाषा-वैविध्य का अभाव — या इसी तरह की कुछ और शिल्पगत कमज़ोरियों की कई समालोचकों ने चर्चा की है, जिसका कारण उपर्युक्त पूर्वाग्रहों से सीमित एक अनुपयुक्त समालोचनात्मक दृष्टिकोण ही है। यह समीक्षात्मक प्रतिपत्ति भी कि जिस अपूर्व, अभिनव शिल्प का प्रयोग हुआ है वह अनजाने ही हुआ है, अथवा लेखक ने सचेत होकर उसका प्रयोग नहीं किया है, क्योंकि वह परंपरागत औपन्यासिक शिल्प से भिन्न एवं सर्वथा नवीन है, युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। इसके विपरीत लेखक के जीवन के दो उल्लेखनीय तथ्य उसकी विकसित कलादृष्टि एवं शैल्पिक सामर्थ्य को विशेष रूप से रेखांकित करते प्रतीत होते हैं। 'देहाती दुनिया' के प्रथम संस्करण से छठे संस्करण (1950) तक लेखक ने अपनी भूमिका में यह बात दुहराई थी कि इसी तरह का एक और उपन्यास 'हमारा गाँव' लिखने का उसका वादा और इरादा है जिसे वह पूरा करना चाहता है। यद्यपि यह इरादा तो पूरा नहीं हो सका, किन्तु 1950 में ही लेखक ने अपनी आत्मकथा के शैशवकालीन कुछ अंश 'चुन्नू-मुन्नू' नामक बाल-पत्रिका में प्रकाशित किये थे। बाद में ये अंश 'मेरा बचपन' शीर्षक से एक सुंदर बालोपयोगी पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए, और अब अंततः उनकी आत्मकथा 'मेरा जीवन' के प्रारंभिक परिच्छेद के रूप में छप चुके हैं। 'देहाती दुनिया' के भोलानाथ के शैशव का चित्र लेखक के अपने शैशव के चित्र से (जब उसका नाम भी 'भोलानाथ' ही था) प्रायः हू-ब-हू मिलता है। ऐसा लेखक ने पहले और बाद में भी बिलकुल अनजाने ही किया होगा ऐसा मानने का कोई कारण नहीं दीखता।

लेखक के जीवन के एक और तथ्य की सूक्ष्म छाया 'देहाती दुनिया' के कथा-शिल्प पर फैली हुई दिखाई पड़ती है, जिसे भी मात्र आकस्मिक नहीं माना जा सकता। लेखक के वंशवृक्ष का प्रारंभ लगभग अठारहवीं शती के प्रारंभिक दशकों में माना जाता रहा है। जब सात-आठ पीढ़ी पहले उसके वंश के पूर्व-पुरुष अपनी माँ के साथ उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर जिले के शेरपुर गाँव से अपने ननिहाल उनवांस में आकर रह गये थे। उसी तथ्य का यह पक्ष भी यहाँ प्रासंगिक है कि उसके पूर्वजों

ने ज़मींदारों की दीवानगिरी से ही अपनी भू-संपत्ति अर्जित की थी। इन सभी तथ्यों के आलोक में 'देहाती दुनिया' की कथा-संरचना एवं उसके शिल्प को देखने पर यह मानना संभव नहीं लगता कि लेखक ने इस उपन्यास की कथा-संरचना और शिल्प-प्रयोग में अनायास ही ऐसी संश्लिष्टता एवं सूक्ष्मता अर्जित कर ली है। यदि 'देहाती दुनिया' स्मरण-शिल्प में लिखा हुआ हिन्दी का पहला उपन्यास है तो (इन तथ्यों के आलोक में) यह भी मानना होगा कि इतना संश्लिष्ट और कलात्मक प्रयोग लेखक ने पूरी चेतनता के साथ किया है। प्रारंभ से अंत तक यह उपन्यास एक सुचिंतित, कसे हुए शिल्प में रचित उत्कृष्ट कथा-कृति है जिसमें लेखक ने ठेठ देहात के औपन्यासिक चित्र को आत्यंतिक कलात्मकता से उकेरने का अपना लक्ष्य पूरी तरह प्राप्त कर लिया है।

हिन्दी कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में शिवजी के योगदान की चर्चा पाठकीय स्तर पर तो बहुधा हुई है, पर उनका गंभीर कथालोचनात्मक मूल्यांकन अभी तक नहीं हुआ है। भाषा और शिल्प के स्तर पर अपनी कहानियों और अपने अकेले उपन्यास में उन्होंने जो प्रयोग किये हैं उनका महत्त्व तभी स्पष्ट हो सकता है जब उन कृतियों को उनके सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाये।

इन दो कथा-कृतियों के अलावा शिवजी का अधिकांश लेखन उनके पत्रकार-जीवन के आनुषंगिक लेखन के रूप में ही हुआ। 'विभूति' और 'देहाती दुनिया' की रचना भी जिन दिनों हुई थी, शिवजी 'मारवाड़ी सुधार', 'मतवाला', 'माधुरी' आदि पत्रों का संपादन कर रहे थे। पत्रकारिता का मार्ग उनके लिए जहाँ एक ओर हिन्दी और राष्ट्रसेवा का आदर्श मार्ग था, वहीं दूसरी ओर वह उनके लिए आजीविका का भी एकमात्र विकल्प था। सरकारी स्कूल की सुरक्षित नौकरी छोड़ने का कारण भी देशसेवा की महत्त्वाकांक्षा ही थी, और राष्ट्रीय पत्रकारिता ही यह एकमात्र मार्ग था जिसका अनुसरण कर आजीविका और राष्ट्रसेवा — दोनों ही लक्ष्य प्राप्त किये जा सकते थे। और स्वाधीनता संघर्ष के उन दिनों में हिन्दी-सेवा राष्ट्रसेवा का ही पर्याय थी। इन्हीं अपरिहार्य कारणों से शिवजी कथा-लेखन से मुड़कर शुद्ध पत्रकारिता की ओर अग्रसर हुए थे।

शिवजी की ये दोनों कथा-कृतियाँ 'शिवपूजन रचनावली' के प्रथम खंड में संकलित हैं। उसमें संकलित तीसरी पुस्तक 'बिहार का विहार' बिहार का ऐतिहासिक-भौगोलिक परिचय प्रस्तुत करती है जिसका आज, सभी तथ्यों-आँकड़ों के पुराने पड़ जाने पर भी यह महत्त्व अवश्य है कि उतनी सुंदर भाषा शैली में लिखी बिहार पर कोई पुस्तक आज भी नहीं मिलेगी। 'रचनावली' के दूसरे खंड में शिवजी की कुछ फुटकर — बालोपयोगी, ग्रामोद्धार-संबंधी, व्यंग्यात्मक - कृतियाँ तथा साहित्यिक भाषण संकलित हैं। विभिन्न गद्य-विधाओं की इन कतियों की चर्चा आगे यथास्थान की गई

ख. निबंध साहित्य

'शिवपूजन रचनावली' के पहले दो खंडों में शिवजी की ऐसी कृतियाँ संकलित की गई थीं जो पुस्तकाकार पूर्व-प्रकाशित थीं अथवा प्रस्तावित थीं। किन्तु तीसरे और चौथे खंडों में उनके यथोपलब्ध किन्तु अद्यतन असंकलित निबंध, संपादकीय टिप्पणियाँ तथा संस्मरण संगृहीत थे। तीसरे खंड के लेखकीय वक्तव्य में शिवजी ने लिखा कि इस खंड में वही लेख छप सके जो उनके घरेलू संग्रहालय में मिल पाये थे। "कई लेख मिले ही नहीं। ज्यों-ज्यों रचनाएं मिलतीं गईं, त्यों-त्यों छपती गईं"। परिषद में शिवजी का कार्यकाल 1959 में समाप्त हो रहा था और चौथा खंड लगभग उनकी सेवा-निवृत्ति के साथ ही छपकर निकला। यही अंतिम खंड था। पहले की जो भी रचनाएं अनुपलब्धता के कारण संगृहीत होने से रह गई थीं या अन्य कारणों से संगृहीत नहीं की गई थीं, उनके अलावा बाद में लगभग तीन साल में लिखी रचनाएँ—लेख, संपादकीय टिप्पणियाँ, संस्मरण आदि — बहुलांशतः असंगृहीत ही रह गईं। शिवजी ने निधनोपरांत उनके संस्मरणों के दो संग्रह 'वे दिन, वे लोग' और 'बिंबः प्रतिबिंब' प्रकाशित हुए थे। 'रचनावली' के तीसरे खंड में 1912 से 1956 के बीच प्रकाशित शिवजी के लगभग 140 निबंध ("साहित्यिक रचनाएँ") तथा 84 व्यंग्य-टिप्पणियाँ संकलित हुई थीं। ये टिप्पणियाँ 'सरस्वती' में लगातार तब छपी थीं जब 1932-33 में शिवजी 'द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ' के संपादन के सिलसिले में प्रयाग में कई महीने रहे थे। अपने लंबे पत्रकार-जीवन में शिवजी ने बहुधा सामाजिक-राजनीतिक बिंदुओं पर ऐसी मनोरंजक व्यंग्य-टिप्पणियाँ विशेषकर 'मतवाला' में और फिर 'गंगा', 'जागरण' आदि में लिखी थीं जो 'रचनावली' में संकलित होने से रह गई। इनमें भाषा-साहित्य एवं साहित्यकारों से संबद्ध अनेक टिप्पणियाँ भी शामिल हैं जिनमें शुद्ध, सरस हास्य-व्यंग्य की अद्‌भुत छटा देखी जा सकती है।

'शिवपूजन रचनावली' के अंतिम चौथे खंड के पूर्वार्द्ध में 1915 से 1958 के बीच विभिन्न अवसरों पर लिखे एवं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे लगभग सौ संस्मरणात्मक लेख संकलित हैं जिनमें कुछ जीवनियाँ अथवा श्रद्धांजलियाँ भी हैं। उत्तरार्द्ध में 'मारवाड़ी सुधार', 'गंगा', 'जागरण', 'हिमालय' और 'साहित्य' से चुनी हुई लगभग ढाई सौ संपादकीय टिप्पणियाँ संकलित हैं। ये टिप्पणियाँ भी 1921 से 1959 के बीच की लिखी हुई हैं। इस संकलन में 'मतवाला' के अग्रलेख समय पर उपलब्ध न होने के कारण सम्मिलित होने से रह गये। वैसे भी 1959 के पहले और उसके बाद प्रकाशित संपादकीय टिप्पणियों की संख्या रचनावली में संगृहीत सामग्री से परिमाण में संभवतः कुछ अधिक ही होगी, और विशेषतः बाद की 'साहित्य' की संपादकीय टिप्पणियाँ तो निस्संदेह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भी हैं। इस तरह तीसरे और चौथे खंड में जितनी सामग्री संकलित हो सकी, कम से कम वैसी उतनी ही और

सामग्री असंगृहीत रह गई है। निश्चय ही, इस असंगृहीत विपुल सामग्री का विशेष महत्त्वपूर्ण अंश है 1959 से 1962 के बीच लिखे शिवजी के निबंध, संस्मरण और संपादकीय। इनमें 'रचनावली' (4) के संस्मरणों तथा बाद के लिखे संस्मरणों के आत्मकथात्मक अंशों को कालक्रमानुसार शिवजी की आत्मकथा के रूप में उनके निधनोपरांत 'मेरा जीवन' शीर्षक से प्रकाशित किया जा चुका है, तथा शेष सारी संस्मरण-सामग्री भी 'स्मृतिशेष' नाम से प्रकाशित हो चुकी है। इन दोनों परस्पर पूरक ग्रंथों में इस प्रकार शिवजी द्वारा लिखित प्रायः संपूर्ण संस्मरण-साहित्य संकलित हो चुका है। कुछ जो थोड़े-से संस्मरण या जीवनियाँ संगृहीत होने से रह गए हैं, वे या तो अनुपलब्ध हैं या अब अपनी तात्कालिकता अथवा कम महत्त्व के कारण असंग्रहणीय प्रतीत होते हैं।

शिवजी लगभग 1906-7 ई. से नियमित डायरी लिखा करते थे। किन्तु 1941 के पहले की उनकी सभी डायरियाँ खो गई थीं अथवा नष्ट हो गईं और यद्यपि 1941 के बाद की डायरियों से चुने हुए कुछ अंश यत्र-तत्र पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं, पर उनका ग्रंथाकार प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है।

शिवजी के जितने निबंध 'रचनावली' के तीसरे खंड में संकलित हैं, और जो बाद में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए, उनकी संख्या लगभग दो सौ होगी। उनके जो ग्यारह साहित्यिक भाषण 'रचनावली' के दूसरे खंड में संकलित हैं, उन पर भी हम साथ ही विचार कर सकते हैं। इन सभी पूर्व-लिखित एवं प्रकाशित भाषणों का स्वरूप भी निबंध का ही है। इस प्रकार हम शिवजी के संपूर्ण निबंध-साहित्य पर विषय-वस्तु एवं भाषा-शैली के दृष्टिकोणों से विचार कर सकते हैं। अपनी इन रचनाओं को साहित्यिक रचनाओं की कोटि में रखते हुए स्वयं शिवजी ने अपने लेखकीय वक्तव्य में कहा है—"इन रचनाओं से कोई और लाभ हो या न हो, यह तो पता लग ही जायगा कि हमारी मनोवृत्ति और प्रवृत्ति कब कैसी रही। हमारी रचना शैली के विकास-क्रम का अध्ययन करने में भी सहायता मिलेगी।" अतः यह स्पष्ट है कि स्वयं लेखक भी अपनी रचनाओं की प्रकृति एवं उनके महत्त्व से अनभिज्ञ नहीं है। वास्तव में लेखक ने स्वयं ही यह निर्दिष्ट कर दिया है कि उसकी इन रचनाओं पर किन दृष्टिकोणों से विचार किया जाना चाहिए। लेखक की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति ने ही उसकी रचनाओं की विषयवस्तु का निर्धारण किया और उनकी रचना-शैली को भी विकसित किया। दूसरे शब्दों में विषयवस्तु के चयन एवं रचना-शैली के विकास में ही लेखक की मनोवृत्ति-प्रवृत्ति अथवा उसकी सृजनशील मनीषा पूरी तरह प्रतिबिंबित दिखाई दे सकती है।

अपनी इन साहित्यिक रचनाओं एवं भाषणों में जहाँ एक ओर लेखक ने ललित अलंकृत अनुप्रास-रंजित कल्पनाशील शैली में 'माधुरी', 'चुंबन' और 'आलिंगन' जैसे

शृंगारिक विषयों पर छोटे-छोटे काव्यात्मक निबंध रचे हैं, वहीं 'संतोष', 'सत्संगति' और 'रामभक्ति' जैसे नैतिक-धार्मिक विषयों पर भी रम्य रचनाएं प्रस्तुत की हैं; हिन्दी और संस्कृत साहित्य के विभिन्न पक्षों पर भी महत्त्वपूर्ण निबंध लिखे हैं। वस्तुतः शिवजी के निबंधों में भाषा, साहित्य और समाज के प्रायः सभी महत्वपूर्ण पक्षों पर गंभीरता से विचार किया गया है। साहित्य परिषदों और साहित्यिक आयोजनों में प्रदत्त उनके लिखित भाषण भी -- जिनमें ग्यारह भाषण रचनावली (2) में संकलित हैं— वास्तव में निबंध ही हैं। इन सभी भाषणों में, उनके अन्य निबंधों की तरह ही, शिवजी की गहन एवं निष्कंप धार्मिक-नैतिक आस्था, देश और समाज के प्रति अविचल प्रतिबद्धता, तथा हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति संपूर्ण समर्पण-भावना सहज ही परिलक्षित होती है। इनमें तीन भाषण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं — (1) बि. प्रा. हिं. सा. सम्मेलन के सत्रहवें अधिवेशन (पटना) के अध्यक्ष-पद से दिया गया भाषण, (2) बरहज (गोरखपुर) की हिन्दी साहित्य परिषद के वार्षिकोत्सव (1942) का अध्यक्षीय भाषण, तथा (3) अ. भा. हिं. सा. सम्मेलन के बत्तीसवें अधिवेशन (जयपुर, 1944) की साहित्य परिषद का अध्यक्षीय भाषण।

पहले भाषण का प्रारंभ शिवजी ने अपनी सद्यःस्वर्गीया पत्नी के अत्यंत मार्मिक अनुस्मरण से किया है, और जैसी परंपरा रही है, उसके बाद पिछले दो वर्षों में दिवंगत बिहारी साहित्यसेवियों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की है। इस भाषण का शीर्षक "बिहार की साहित्यिक प्रगति और समस्याएं" इसके विषय को स्पष्ट करता है। साहित्य की सभी विधाओं में बिहार की प्रगति का एक सम्यक् आकलन प्रस्तुत करने के बाद शिवजी ने जिन कुछ समस्याओं की ओर ध्यान खींचा है, आज पचास साल बाद भी वे उपेक्षित और विस्मृत ही हैं। बिहार के हिन्दी साहित्यकारों की 'अपूर्व साहित्यिक वस्तुओं के आलोकप्रद संग्रहालय' की उनकी कल्पना की आज चर्चा भी कठिन है। उनके उस भाषण की इस पंक्ति की पीड़ा की अनुभूति भी आज क्षोभ जगाती है— "जिन्होंने साहित्य-यज्ञकुंड के धधकाने मे अपनी हड्डियों को चंदन की चैलियां बना डाला, उनको आपने सदा के लिए आँखों से ओझल ही नहीं किया, अपने मस्तिष्क से भी उन्हें निर्वासित कर दिया।" इसी भाषण में शिवजी ने हिन्दी बनाम हिन्दुस्तानी की समस्या पर भी अपने विचार बड़ी निर्भीकता से प्रस्तुत किये थे। वास्तव में राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के विरोध की खिलाफत शिवजी के लिए एक धर्मयुद्ध जैसा था। अपने अनेक लेखों और डायरी-पृष्ठों में तथा सार्वजनिक वक्तव्यों में शिवजी ने राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का विरोध करने वालों के खिलाफ मुहिम छेड़ी है। इस भाषण में -- लिपि-सुधार की समस्या, संथालों में हिन्दी प्रचार की समस्या, हिन्दी के विकास के हित में पुस्तकालयों के संगठन की समस्या — जैसी कई महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है।

बरहज (1942) और जयपुर (1944) के अध्यक्षीय भाषणों में भी हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास-पथ में बाधक समस्याओं पर ही प्रकाश डाला गया है। साहित्य-सेवियों की स्मृति-रक्षा की चर्चा फिर एक बार इस भाषण में हुई है, और हिन्दी पत्रकारिता को साहित्य और साहित्य-सेवियों के प्रति अधिक जागरूक एवं संवेदनशील बनाने का आह्वान किया गया है। हिन्दी के लेखकों को भी सच्ची साहित्य-साधना के महत्व एवं स्वस्थ भाषा और स्वस्थ विचार के निरंतर अभ्यास के प्रति सजग बनाने का प्रयास भी इस भाषण में किया गया है। साहित्य में प्रगतिशीलता के प्रश्न पर भी शिवजी ने अपने विचार बड़ी स्पष्टता से व्यक्त किये हैं — "मेरा यह व्यक्तिगत विचार है कि हिन्दी में समालोचना के आदर्श का निरूपण बहुत सोच-समझकर किया जाना चाहिए। हमारे समालोचक के लिए विदेशी साहित्य के समालोचना-सिद्धांतों की जानकारी के साथ-साथ स्वदेशी साहित्य की आलोचना-पद्धति का भी परिज्ञान अत्यावश्यक है। हमारे साहित्य में प्रगतिशीलता की जो धारा आई है, . . . यह संतोष का विषय है। कालचक्र की अबाध गति और परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभाव से सजीव साहित्य में नई-नई प्रवृत्तियों का पदार्पण स्वाभाविक है। परंतु हमें इस बात पर ठंढे दिल और दिमाग़ से विचार करना चाहिए कि वास्तव में यह धारा सर्वथा नवीन है, पाश्चात्य जगत का प्रसाद है अथवा हमारे साहित्य-हिमाद्रि में ही कहीं इसका उद्‌गम-स्थल है।"

जयपुर के भाषण का शीर्षक "भारतीय साहित्य विश्व-साहित्य का मेरुदंड है" उसके विषय को पूरी तरह स्पष्ट करता है। शिवजी ने अपने इस भाषण में हिन्दी की सर्वग्राह्यता एवं समन्वयशीलता को रेखांकित करते हुए उसके साहित्यिक वैभव की शाश्वतता पर बल दिया है — 'हिन्दी अपनी ही शक्ति और उदारता से भारत में फैलती जा रही है। इसने अपने क्षेत्र को कँटीले तारों से घेरकर फाटक नहीं लगाया है। अंग्रेजी, अरबी, फारसी, तुर्की, फ्रांसीसी, पोर्चुगीज आदि सभी विदेशी भाषाओं के शब्दों की प्रदर्शनी आप हिन्दी के क्षेत्र में देखेंगे। इसका घेरा दिन-दिन बढ़ता ही चला जाता है। . . . हिन्दी अपनी राष्ट्रभाषा की मर्यादा निर्द्वंद्व निबाहेगी — वह अपनी छत्रछाया में सबको फूलने-फलने देगी। . . . हमारा यह साहित्य हमारे पूर्वजों की कमाई है। किसी जाति के पूर्वजों का चिर-संचित ज्ञान-वैभव ही साहित्य है। अन्यान्य लौकिक वैभव नश्वर हैं, यह अविनाशी है। यह साहित्य विश्व-साहित्य का मेरुदंड है। हिन्दी का साहित्य अभी शायद आधे से अधिक अप्रकाशित ही है। यदि हमारा संपूर्ण साहित्य सांगोपांग प्रकाशित हो जाय, तो हिन्दी का रत्नागार देखते ही बने। कुछ लोग हिन्दी साहित्य की वास्तविक महत्ता से अपरिचित होने के कारण इसे अधूरा और हेय समझते हैं। उन्हें जानना चाहिए कि ग्रंथों का संख्या-बाहुल्य ही किसी साहित्य की श्रेष्ठता का प्रमाण नहीं है। काँच के चमकीले टुकड़ों की राशि से दो-चार-दस जगमगाते अनमोल लाल कहीं अच्छे हैं।"

'शिवपूजन रचनावली' के तीसरे खंड में जितने निबंध संकलित हैं, और जो बाद में लिखे निबंध हैं, उनमें अधिकांश में, और डायरी-पृष्ठों में भी, सर्वाधिक चर्चा हिन्दी भाषा और साहित्य से संबद्ध विषयों और समस्याओं की ही बार-बार हुई है। संपादकीय अग्रलेखों एवं टिप्पणियों में भी बहुधा इन्हीं विषयों को उठाया गया है। डायरी-प्रविष्टियों को छोड़कर इस तरह की सारी सामग्री पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ लिखी गई — या तो सामयिक प्रश्नों पर संपादकीय मंतव्य के रूप में अथवा लेखक की वैयक्तिक मनोवृत्ति या प्रवृत्ति से अभिप्रेरित होकर साहित्यिक सामाजिक ओर राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर। पत्रकारिता को आजीविका के रूप में चुनने से पहले की रचनाएं अधिकांशतः भावात्मक विषयों पर ललित वैयक्तिक निबंधों के रूप में लिखी गईं। इन रचनाओं को भाषा के स्तर पर हम जितना अलंकृत, रसमय और संगीतमय पाते हैं, भाव के स्तर पर भी उतना ही कोमल, संवेदनापूर्ण, उदात्त और प्रभविष्णु पाते हैं। इनके विषय — सेवा, औदार्य्य, परोपकार, सत्संगति, सच्चाई, सुख और शांति, विद्या और विवेक — नैतिक, चारित्रिक एवं उपदेशात्मक हैं। ध्यातव्य है कि लगभग इन्हीं दिनों में शिवजी ने जॉर्ज सिडनी अरंडेल की अंग्रेजी पुस्तक 'द वे ऑफ सर्विस' का 'सेवाधर्म' शीर्षक से हिन्दी अनुवाद किया था जिसे उनके साहित्य-सखा देवेंद्र कुमार जैन ने आरा से प्रकाशित किया था। वह पुस्तक भी रचनावली के दूसरे खंड में संकलित हुई है। उसी खंड में संकलित उनकी दो और कृतियाँ- जो पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हो सकी थीं — 'महिला महत्त्व' तथा 'आदर्श-परिचय' भी इन्हीं दिनों की रचना हैं, जिनमें भारतीय नारी की अस्मिता एवं आदर्शों तथा अन्य चारित्रिक आदर्शों पर निबंध रचित हुए हैं।

'रचनावली' (3) में संकलित रचनाओं में जहाँ प्रारंभिक रचनाएँ ललित वैचारिक निबंधों की श्रेणी में रखी जा सकती हैं, जो संस्कृत एवं हिन्दी काव्य के उद्धरणों से सजी हुई हैं, वहीं पत्रकारिता के संपादन-कर्म में संलग्न होने के बाद की रचनाओं में हिन्दी भाषा और साहित्य-विषयक रचनाओं की प्रमुखता दिखाई देती है। साहित्य-विषयक रचनाओं में 'हिन्दी में होली-साहित्य-संग्रह की आवश्यकता', 'हिन्दी साहित्य में मध्यभारत का अतीत और वर्तमान', 'तुलसी की रामभक्ति', 'हिन्दी साहित्य के कुछ चिंत्य अभाव', 'साहित्य', 'आचार्यों का आर्ष-प्रयोग' आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। साहित्य-विषयक लेखों में कई विवरणात्मक लेख अनेक महत्त्वपूर्ण एवं शोधोपयोगी सूचनाओं से परिपूर्ण हैं। ऐसे लेखों में ही हम नाटक से संबद्ध कई महत्त्वपूर्ण लेखों को भी गिन सकते हैं। 'बिहार की साहित्यिक प्रगति' तथा 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा और बाबू श्यामसुंदर दास' एवं नाट्य-संबंधी 'बंगीय रंगमंच', 'बंगीय रंगमंच का इतिहास', 'काशी की नागरी-नाट्य-मंडली', 'प्रयाग की हिन्दी नाट्य समिति' आदि लेख इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। नाटक-संबंधी इस लेखमाला के कई लेख

अनुपलब्ध होने के कारण 'रचनावली' में संकलित होने से रह गये, किन्तु शोध की दृष्टि से उन लेखों का महत्व भी अत्यधिक होगा, यह इन उपलब्ध लेखों के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा का प्रश्न शिवजी के लेखों और संपादकीय टिप्पणियों में बार-बार चर्चित हुआ है। हिन्दी के विकास में पुस्तकालयों के संगठन के योगदान का विशेष महत्त्व भी उनके लेखों और भाषणों में बार-बार रेखांकित हुआ है। इस विषय में उनके दो लेख — 'हिन्दी पुस्तकालयों का संगठन' और 'राष्ट्रभाषा का विराट संग्रहालय' — विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों ही लेख शोधोपयोगी सूचनाओं से भरे हुए हैं, और दोनों का अभिप्राय है हिन्दी के विकास के लिए देश-भर के हिन्दी पुस्तकालयों का एक केंद्रीय सम्मेलन के अंतर्गत संगठन और राष्ट्रभाषा हिन्दी के एक विराट संग्रहालय की स्थापना।

"पुस्तकालयों का संगठन हो जाने पर हिन्दी-प्रचार के सिवा हिन्दी-साहित्य-संवर्द्धन में कितनी सुगमता होगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। . . . जब राष्ट्रभाषा का विराट संग्रहालय तैयार होगा, तब वह समस्त संबद्ध पुस्तकालयों के प्रपितामह-पद पर प्रतिष्ठित होकर गौरवास्पद समझा जायगा, और सब पुस्तकालयों पर प्रभाव रख सकेगा।" (रच. 3/223-25)

"यदि कोई विद्वान आज किसी एक स्थान में बैठकर हिन्दी-भाषा का इतिहास या अन्य कोई ऐसा ग्रंथ, जिसके लिए सब तरह की असंख्य पुस्तकों और अनेक पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों को देखना अनिवार्य रूप से आवश्यक हो, लिखना चाहे, तो हरगिज नहीं लिख सकता। उसे पचासों जगह घूमने और हैरान-परेशान होने पर भी संतोषजनक सामग्री नहीं मिल सकती। यदि एक ही स्थान में सब तरह की उपयोगी सामग्रियां सुलभ हो जायं, तो हिन्दी में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ बन सकते हैं।" (रच. 2/235-36)

पाँचवें दशक के लेखों में राष्ट्रीय स्वाधीनता प्रमुख विषय है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भी राष्ट्र-निर्माण के प्रति पूर्ण समर्पण-भाव का आह्वान कई लेखों में बार-बार किया गया है। व्यष्टिगत चरित्र निर्माण से ही समष्टिगत राष्ट्र-निर्माण संभव है। ग्रामोद्धार से ही सच्चा भारतोद्धार होगा, और इसके लिए महात्मा गाँधी के रचनात्मक कार्यक्रमों को सरकार के कार्यान्वयन में जन-जन को अपनाना होगा। चालीस और पचास के दशकों में ऐसे विचारों को महत्व देना स्वाभाविक भी था।

"यदि हम प्रजातंत्रात्मक देश का सारा सुख-सौभाग्य चाहते हैं तो हमें वैसे देश के नागरिक का बाना भी धारण करना पड़ेगा। नागरिकता और सभ्यता को वास्तविक रूप में अपनाये बिना केवल अधिकारों के लिए ही दावा करते रहना सुशोभन नहीं कहा जा सकता। और जब हम वस्तुतः नागरिक बन जायेंगे तब हमारे स्वत्वों

और सुखों को ज़बर्दस्ती कोई रोक नहीं सकता। सच तो यह है कि सुख या अधिकार मांगने से मिलता भी नहीं। वह योग्यता या पात्रता ढूँढ़ता है। सद्‌गुणी के पास प्रतिष्ठा स्वयं आ जाती है। सुख हमेशा ही पुण्यात्मा की तलाश में रहता है। जैसे सांसारिक भोगों को भोगने के लिए उत्तम शारीरिक स्वास्थ्य परमावश्यक है वैसे ही राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकारों को भोगने के लिए नैतिक स्वास्थ्य की आवश्यकता है। हम अपना नैतिक बल बढ़ावें और सारे अधिकार पावें। स्वतंत्रता-जन्य लाभों की उपलब्धि हमारी नैतिकता की शक्ति पर ही निर्भर है।" (रच. 3/443)।

'रचनावली' (3) में संकलित निबंध अथवा लेख शिवजी के साहित्यिक व्यक्तित्व के सुंदर, सत्य और शिव पक्षों को उनकी समग्रता में प्रस्तुत करते हैं। उनकी भाषा-शैली भी इन भावों के सर्वथा अनुरूप प्रत्येक चरण में विषयानुकूल विकसित होती गई है। किन्तु उनके गद्य की रसमयता, ऊर्जा और संतुलन प्रारंभ से अन्त तक उसके विशिष्ट गुण के रूप में वर्त्तमान रहते हैं। 'रचनावली' के प्रकाशन के बाद जीवन के शेष चार-पाँच वर्षों में जो निबंध अथवा लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए, वे अद्यतन ग्रंथाकार संकलित नहीं हैं। अधिकांशतः इन लेखों में राष्ट्र, समाज एवं चरित्र के उन्नयन पर बल दिया गया है। अक्तूबर, 1960 में प्रकाशित उनके लेख 'संत और गाय' की ये पंक्तियाँ जहाँ उनकी आध्यात्मिक मनीषा को स्फटिकवत् प्रतिबिंबित करती हैं, वहीं उनकी गद्य-शैली के चरमोत्कर्ष को भी बड़ी स्पष्टता से झलकाती हैं :

"भारतीय संस्कृति के संपोषक महाकवि कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग में गाय की सेवा-शुश्रुषा का बड़ा सुंदर और स्वाभाविक वर्णन किया है। महाराज दिलीप प्रातः काल ही महर्षि वशिष्ठजी की नंदिनी गाय को वन में चराने के लिए ले जाते थे। उसे खोलने से पहले उनकी महारानी सुंदक्षिणा उस गाय को सुगंधित फूलों की मालाओं से सिंगारती-पूजती थीं। उसका बछड़ा दूध पिलाकर बांध दिया जाता था। जंगल में वह कहीं खड़ी होती तो राजा भी खड़े रहते थे। वह चलने लगती तो उसके साथ ही चल पड़ते। बैठ जाती तो स्वयं भी आसन बांध बैठे रहते। जल पीना चाहती तो उसे जल देते। उसकी छाया के समान उसके पीछे लगे फिरते। लहलही घास का स्वादिष्ट कवल ग्रास उसे अपने हाथों खिलाते। उसकी देह सहलाते-खुजाते। उसके तन पर मच्छर या डाँस न बैठने देते। जिधर जाना चाहती उधर ही स्वच्छंदता से जाने देते, रोक-टोक भी नहीं करते थे। किसी झाड़ी में घुसती तो भी उसका पीछा न छोड़ते। कँटीली लताओं से उनकी जुल्फें बिखर जाती थीं। तब भी उसकी सेवा में तत्पर ही रहते थे।"

इन्हीं असंकलित निबंधों में कुछ साहित्यिक निबंध — 'गीता का एक श्लोक', 'महामना मालवीयजी और श्रीमद्‌भगवद्‌गीता', 'तुलसी-प्रयुक्त क्रियाएँ' विशेष

उल्लेखनीय हैं। 'महामना मालवीयजी और श्रीमद्भगवद्गीता' वस्तुतः एक संस्मरणात्मक निबंध है जिसमें मालवीयजी के गीता-प्रवचनों का अनुस्मरण है : "गीता के श्लोकों के एक-एक शब्द और वाक्य पर उनकी उक्तियाँ अपूर्व उद्भावनाशक्ति का परिचय देती थीं। 'सततं कीर्त्तयंतो मां' में जो 'सततं' शब्द है उसके संबंध में उन्होंने बताया था कि इस शब्द का अर्थ 'निरंतर' तो है ही, 'तत' का अर्थ 'वीणा' भी है, अतः वीणामृदंगादि के साथ संकीर्त्तन करने से भगवान विशेष प्रसन्न होते हैं, क्योंकि संगीत द्वारा मनुष्य में तल्लीनता आती है और वह अनायास भगवद्भजन में तन्मय हो जाता है। गीता के आरंभ के प्रथम श्लोक में जो 'युयुत्सवः' शब्द है उसका अर्थ योद्धागण तो है ही, उसमें 'युयुत्सु' मल्लविद्या का भी सूचक है; क्योंकि उस युग में सभी वीर पुरुष मल्लविद्या में निपुण होते थे और जापान में मल्लविद्या के लिए जो 'युयुत्सु' शब्द प्रचलित है वह भारतवर्ष की ही देन है।"

'तुलसी-प्रयुक्त क्रियाएँ' भाषा-विज्ञान की दृष्टि से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण शोधोपयोगी निबंध है, जिसमें हिन्दी में क्रिया-प्रयोग की एक नई दिशा का अन्वेषण है। इस निबंध का मुख्यांश यहाँ परिशिष्ट में किंचित विस्तार से उद्धृत है। "अनुसरेगा, निरूपेगा, अवतरेगा, विवाहेगा, आराधेगा, अनुमानेगा", इस तरह का संकर्षित क्रिया-प्रयोग हिन्दी की शक्ति-वृद्धि के लिए उपादेय सिद्ध होगा। निबंध की अंतिम पंक्तियाँ यहाँ उद्धरणीय हैं — "राष्ट्रभाषा हिन्दी की शक्ति-वृद्धि के उद्देश्य से अतीत युग के समस्त साहित्य का मंथन करके यदि केवल एक क्रिया-कोश का ही निर्माण किया जाय और सभी क्रियाओं के रूप शोधकर, उन्हें प्रयोगोपयोगी बनाकर, सोदाहरण प्रदर्शित किया जाय, तो हमारी भाषा विशेष समृद्धिशालिनी हो सकती है।"

निबंध भावों और विचारों को गुंफित और संप्रेषित करने की एक समर्थ गद्य-विधा है। शिवजी के अधिकांश निबंधों में — और भाषणों तथा संपादकीय टिप्पणियों में भी — राष्ट्र, समाज और हिन्दी की हित-चिंता ही विषय है। पत्रकारिता के क्रम में लिखित शिवजी का गद्य अनुपाततः अधिक सरल, और सुबोध है। "शिवपूजन सहाय की गद्य-कला" — शीर्षक अपने निबंध में डॉ. नंदकिशोर नवल ने शिवजी के निबंधों और संपादकीय टिप्पणियों के गद्य के विषय में लिखा है — "उनके गद्य के एक और स्तर का प्रत्यक्षीकरण उनके विचारात्मक निबंधों और संपादकीय टिप्पणियों में होता है, जिनमें प्रयुक्त वाक्य तो स्वाभाविकता की पूरी रक्षा करते हुए बहुत सजाकर रखे गये ही हैं, शब्द अनाज के फटके हुए दानों की तरह चमक से भरे हुए हैं। . . . विचारात्मक गद्य वे सृजनात्मक गद्य के समानांतर ही लिखते आ रहे थे और दोनों उनके लेखन में एक दूसरे को अंत-अंत तक समृद्ध करते रहे।" ('वागीश्वरी', शती-संस्मृति, पृ. 29)

शिवजी के गद्य का एक और प्रकार (डॉ. नवल के अनुसार) — "उनकी गद्य-कला का तीसरा रूप 'दो घड़ी' नामक उनके व्यक्तिगत निबंधों में प्रकट हुआ है, जिनमें हास्य-विनोद की धारा का कल-कल स्वर सुनाई पड़ता है।" वास्तव में विषय और विधा के अनुकूल रंगत पैदा करने की अद्भुत क्षमता शिवजी के गद्य की विशेषता है।

'दो घड़ी' (1949) में शिवजी की हास्य-व्यंग्यात्मक रचनाएँ संकलित हैं। इसकी अधिकांश रचनाएं 1940-50 के बीच की हैं। इनमें आधी रचनाएँ काशी से प्रकाशित साप्ताहिक 'समाज' में 1943-44 में छपी थीं। चौदह में कुल तीन ही रचनाएँ 1918 से 1926 के बीच की हैं, शेष सभी चालीस के दशक में विभिन्न पत्रिकाओं में छपी थीं। 'दो घड़ी' के लेखकीय वक्तव्य में शिवजी ने लिखा है — "हास्यरस की सृष्टि अत्यंत कठिन कर्म है। इसकी ओर मेरी प्रवृत्ति कलकतिया 'मतवाला' के जन्मकाल से ही हुई। जब-जब मन में उमंग उठी, सूझ-बूझ के अनुसार गुमनाम लिखता रहा। सच तो यह कि इन रचनाओं में केवल मन की तरंग ही तरंग है, कौशल का चमत्कार कहीं लेशमात्र भी नहीं।"

'मतवाला' की पत्रकारिता की आधारशिला हास्य-व्यंग्य ही था। किन्तु यह हास्य-व्यंग्य एक स्वस्थ, सकारात्मक एवं रचनात्मक जीवन-दृष्टि से प्रादुर्भूत था। इसका उत्स उस 'मतवाला'-मंडल में था जो हिन्दी के मस्तमौला, जिंदादिल और हिन्दी की सेवा के प्रति पूर्णतः समर्पित साहित्यकारों का एक विलक्षण जमघट था। इसमें काशी, मिर्जापुर और भोजपुर अंचलों की मिट्टी का रस और सोंधापन था। इसमें वह जिंदादिली छलकती रहती थी जिसका ज़िक्र शिवजी ने कलकत्ता, काशी और लखनऊ प्रवास के अपने संस्मरणों में की है। प्रेमचंद वाले संस्मरण की ये पंक्तियाँ इसकी साक्षी हैं — "उन दिनों पं. कृष्णबिहारी मिश्रजी भी 'माधुरी' के संपादकीय विभाग में थे। प्रेमचंदजी, मिश्रजी और बदरीनाथ भट्टजी का जब समागम होता था, हँसी के फव्वारे आकाश चूमने लगते थे। मिश्रजी की रईसी हँसी सामने की मेज़ पर ही उछलती थी और प्रेमचंदजी का ठहाका ऊँची छत से टकराकर खिड़कियों की राह सड़क पर निकल जाता था। — भट्टजी की हँसी उसे पकड़ न पाती थी। दिल खोलकर तीनों हँसते थे। आज वह हँसी कितने ही दिमाग़ों में गूँज रही है।"

यही निश्छल, निर्विकार हास्य व्यंग्य का उत्कृष्ट बांकपन लेकर शिवजी की व्यंग्यात्मक रचनाओं और टिप्पणियों में प्रकट हुआ है। इस हास्य-व्यंग्य में जितनी काटदार धार है, उतनी ही सरसता और शुभ्रता भी है। 'मतवाला', 'जागरण', और 'सरस्वती' में नियमित रूप से लिखी गई व्यंग्य-टिप्पणियाँ और 'मतवाला' के अग्रलेख तो इसे उदाहृत करते ही हैं, 'दो घड़ी' में संकलित बाद की ये व्यंग्यात्मक रचनाएँ

भी इसकी अनोखी मिसाल पेश करती हैं। चावल के पके दाने की तरह इन संकलित रचनाओं से चुनी हुई कुछ पंक्तियाँ ही इसका प्रमाण दे देंगी।

— 'मैं हज्जाम हूँ। . . . जो सारी दुनिया को उल्टे छुरे से मूँड़ते हैं, उन्हें मैं सीधे छुरे से ही मूँड़ डालता हूँ - मनमाने पैसे भी गिना लेता हूँ और मन मनाकर ठोंठ भी मसल देता हूँ। . . . टटका-टटका टे दूँ तो टकटकी बँध जाय और टटोल-टटोल टीप दूँ तो विरही की हराम नींद भी चुपके से चली आवे।"

— 'मैं धोबी हूँ, भगवान भी धोबी हैं। मैं कपड़े धोता हूँ, वे पाप धोते हैं। किन्तु वे पतितपावन कहलाते हैं, मैं सारे समाज की मलीनता का परिष्कार करके भी अछूत कहलाता हूँ। . . . कवि तो केवल मनमोदक खाते हैं, यहाँ सुंदरी-से-सुंदरी युवतियों की रंग-बिरंग साड़ियों और कुर्तियों से नित्य मेरा घर गमगमाया करता है। उन्हें केवल कचारता ही नहीं हूँ—बिछाता भी हूँ, पहनता भी हूँ; क्योंकि मुझ शापभ्रष्ट की चिरसंगिनी वासना-सखी यही केलि-कौतुक पसंद करती है। उस समय मैं तो रजक ही रहता हूँ, पर मेरी रजकी तो रंजक (बारूद) बन जाती है। बस मैं भी अपनी हरी धनिया के लिए हरा पुदीना बन जाता हूँ।"

— "घर पर चकाचक छनी बूटी रंग-रंग में भीनी जा रही है, तब तक 'बहरी तरफ' की बूटी भी घुट चली है। जहाँ सौ रगड़ दी नहीं कि लुआब हुई — हुम-हुम-हुम! सिल-बट्टे पर हरी पत्ती के साथ दूसरे मित्र का हुमकना देख कर एक तीसरे मित्र बोले — हाँ यार ! सिल-बट्टा एक साथ सट जायँ तब बूटी चौचक उतरेगी — उठा लो लोढ़े के साथ सिल को!"

— "तीन-तीन तरूणी पत्नियों की चटनी करके अब मूर्खराजी कटनी किये हुए खेत की तरह ऐसे श्रीहीन हो गये हैं कि जवानी का प्यारा साथी दर्पण भी दीनता दिखाता है।"

'मतवाला', 'जागरण' और 'सरस्वती' की व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ भी सामयिक विषयों को छूती थीं पर उनमें भी व्यंग्य का रंग इतना चटकीला होता था कि आज भी चकित करता है :

— 'हिन्दू लोग मसजिदों के सामने ढोल बजा रहे हैं और मुसलमान लोग मंदिरों की मूर्त्तियाँ तोड़ रहे हैं। इसी तरह परस्पर मिलजुलकर मसजिदों और मंदिरों का सर्वनाश कर डालना चाहिए, क्योंकि इन्हीं दोनों ने मिलजुलकर देश का सर्वनाश किया है।" ('मतवाला', 8.12.23)

— "भूतनाथ की राजधानी काशी में स्त्रियाँ भूतों की पूजा करके संतानवती होने की चेष्टा कर रही हैं। काशी के पंडितों को मर-मरकर भूत होने का ऐसा अच्छा अवसर हाथ से न जाने देना चाहिए।" ('मतवाला', 15.12.23)

— "[लाहौर के एक युवक के शरीर में लिंग-परिवर्तन के चिन्ह उभरने के समाचार पर टिप्पणी :] कहते हैं, यह एक प्रकार की बीमारी है, जो विदेश से अब भारत में आ पहुँची है। अरे यह प्लेग की नानी भारत में कैसे आ पहुँची? कहीं पं. सुमित्रानंदन पंत की तलाश में तो नहीं आई है? शायद इसी कारण पंतजी नगर-निवास छोड़कर ग्रामवास करने के लिए प्रयाग से कालाकांकर चले गये हैं!" ('जागरण', 5.4.32)

— " 'माधुरी' के मई अंक में कविवर पं. रामनरेश त्रिपाठी ने बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है - 'कभी मैं भी दुलहिन थी'। अरे वह कौन-सा स्वर्णयुग था महाराज? सचमुच वह बड़ा रंगीन ज़माना रहा होगा। दुल्हा कमबख़्त तो निहाल हो गया होगा!" ('सरस्वती', जून, 1933)

उन्मुक्त, निर्विकार, साहित्यिक हास्य-व्यंग्य उस युग के साहित्यिक परिवेश की खास पहचान था। अभाव और संघर्ष का पाथेय लेकर हिन्दी और राष्ट्र की सेवा के कंटक-पथ पर चलने वाले इन हिन्दी-भक्तों का यही हास-परिहास उनके जीवन को स्निग्ध और सार्थक बनाता था। हास्य-व्यंग्य की यह पूंजी जीवन-भर शिवजी के व्यक्तित्व और साहित्य का अनिवार्य अंग बनी रही।

हास्य-व्यंग्य की ही तरह शिवजी के जीवन-दर्शन का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष था उनका ग्राम-चिंतन। जिस प्रकार अपने कथा-लेखन काल में शिवजी शृंगार और अलंकार की ओर अभिमुख हुए थे और वहाँ से यथार्थवादी जीवन-दृष्टि और भाषा की सादगी की ओर लौटे, और अपने गद्य-लेखन में उन्होंने जिस प्रकार हास्य-व्यंग्य का रस-रंग मिलाया, उसी प्रकार अपने निबंध-लेखन में, और विशेषत: अपनी डायरियों में, उन्होंने ग्रामोद्धार-विषयक अपना चिंतन बड़ी विशदता से प्रस्तुत किया। ग्रामोद्धार-विषयक उनकी दो पुस्तकें 'ग्राम-सुधार' और 'अन्नपूर्णा के मंदिर में' भी उनके निबंध-साहित्य के अंतर्गत विचारणीय हैं। दोनों ही पुस्तकों में शिवजी के ग्राम्योद्धार-विषयक निबंध संगृहीत हैं। स्वतंत्रतापूर्व के दशक में महात्मा गाँधी के ग्राम-केंद्रित रचनात्मक कार्यक्रमों के प्रभाव में रचित ये निबंध शिवजी की राष्ट्रीय चेतना के दर्पण हैं। "देहात ही देश का दिल है" — शीर्षक निबंध का प्रारंभ इन पंक्तियों से होता है :

"जैसे शरीर को नीरोग, स्वस्थ, सुंदर और सबल बनाने के लिए हृदय को निर्मल, निर्विकार और शुद्ध बनाने की ज़रूरत है, वैसे ही राष्ट्र-रूपी शरीर को सुदृढ़

और शक्तिशाली बनाने के लिए ग्रामरूपी हृदय को स्वच्छ और पवित्र बनाना अत्यंत आवश्यक है। राष्ट्र-रूपी शरीर तब तक सजग और सचेत नहीं हो सकता जब तक ग्राम-रूपी हृदय में नवजीवन का संचार नहीं होगा। यदि हमें सचमुच अपने विशाल राष्ट्र को बलवान और धनवान बनाना है तो हमें बिना विलंब गावों का सुधार और संगठन करने में दत्त-चित्त हो जाना चाहिए।"

राष्ट्र-निर्माण की यह चेतना शिवजी के जीवन और लेखन में उसी समय से विकसित हो रही थी जब वे आरा सेवा समिति के सदस्य थे, और असहयोग आंदोलन में स्कूल की सरकारी नौकरी छोड़कर गाँव-गाँव घूमकर राष्ट्रीय भावना का प्रसार करने में संलग्न थे। जैसा डॉ. भृगुनंदन त्रिपाठी ने अपने नव-प्रकाशित निबंध में लिखा है — "उनके ग्राम-सुधार और ग्रामोद्धार की योजनाओं और सोच के पीछे गाँधीवादी सुधारवाद की प्रेरणा भर ही थी, दृष्टिकोण उनका अपना था, जो लंबे समय तक गाँवों के जन-जीवन को अत्यंत निकट से देखने और अभिन्न भाव से अनुभव करते रहने का संवेदनात्मक व वैचारिक परिणाम था। व्यथा, करुणा और गहन विचार-बोध से संपन्न अनुभव से उपजा वह ऐसा दृष्टिकोण था जो राजनीतिक विचारधारा व दर्शन के गर्भ से नहीं जन्म लेता, बल्कि स्वयं उसके भीतर से, उत्तरदायी व संवेदनशील राजनीति जन्म लेती है!"

शिवजी के निबंध-साहित्य में भाषा-साहित्य, समाज और राष्ट्र के विविध पक्षों को भावना और चिंतन के स्तरों पर आलोकित किया गया है। उनके साहित्यिक निबंधों भाषणों, लेखों अथवा व्यंग्य-रचनाओं—सभी में उनकी हिन्दी-हितैषणा और राष्ट्रीय भावना प्रतिबिंबित हुई है। अपनी संपूर्ण विविधता में शिवजी का निबंध-साहित्य एक समानांतर रचनाकर्म के रूप में उनकी पत्रकारिता की ही देन है। गद्य-लेखन के जो आयाम शिवजी के कथा-साहित्य में उद्घाटित हुए वे उनके निबंध-लेखन में और भी विस्तारित और ऊर्जस्वित होकर—डॉ. नंदकिशोर नवल के शब्दों में — 'हिन्दी की एक मूल्यवान धरोहर" बन गये।

ग. संस्मरण एवं डायरी-लेखन

आचार्य शिव का साहित्यिक जीवन वर्त्तमान शती के दूसरे दशक के साथ ही प्रारंभ हुआ था। लगभग पाँच दशकों से भी अधिक कालावधि में फैले अपने सृजनात्मक जीवन में शिवजी ने शताधिक संस्मरणों की रचना की एवं अनेक संस्मरणात्मक टिप्पणियाँ एवं श्रद्धांजलियाँ लिखी, जो लगभग 1921 से 1961 के बीच विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। 'शिवपूजन रचनावली' के चतुर्थ खंड में 1959 तक की ऐसी रचनाएँ, जिनमें कुछ संक्षिप्त जीवनियाँ और काल-विशेष से संबद्ध संस्मरणात्मक लेख भी थे, ग्रंथ के पूर्वार्द्ध में संकलित हैं। उत्तरार्द्ध में संपादकीय टिप्पणियाँ संगृहीत हैं जिनमें भी यत्र-तत्र संस्मरणात्मक श्रद्धांजलियों के रूप में ऐसी

सामग्री विकीर्ण है। 'रचनावली' के इस खंड में प्रकाशित उनका सर्वप्रथम संस्मरण है 'प्रेममंदिर के प्रेमी पुजारी का परलोक-प्रस्थान', जो शिवजी के अनन्य मित्र आरा के उदीयमान हिन्दी-सेवी एवं प्रकाशक कुमार देवेंद्र प्रसाद जैन के असामयिक निधन से द्रवित-प्रेरित होकर लिखा गया था, और पटना सिटी की 'चैतन्य चंद्रिका' में 1921 में प्रकाशित हुआ था। अपने साहित्यिक जीवन के उषःकाल में शिवजी ने कुमार देवेंद्र के प्रोत्साहन पर अनूदित गद्य-पद्योद्धरणों के कई संकलन प्रकाशित किये थे— 'प्रेमकली', 'प्रेम-पुष्पांजलि', 'त्रिवेणी', 'सेवा-धर्म', आदि। इन सभी पुस्तकों को बड़ी सजधज और कलात्मकता के साथ कुमार देवेंद्र ने 1919-20 के लगभग अपनी प्रकाशन संस्था 'प्रेम मंदिर', आरा से प्रकाशित किया था। दैव-दुर्योग से इस अत्यंत संवेदनशील, सुरुचिसंपन्न साहित्यप्रेमी का असामयिक निधन मार्च, 1921 में हो गया। इस पहले संस्मरण में शिवजी के साहित्यिक जीवन के प्रारंभिक वर्षों की एक झलक मिलती है, और साथ ही उनके संस्मरण-लेखन की प्रायः सभी विशिष्टताएँ भी इसमें स्पष्ट परिलक्षित हैं।

शिवजी के साहित्यिक संस्मरणों का काल-प्रारंभ वस्तुतः यहीं से होता है, जब वे आरा की मारवाड़ी सुधार समिति के मुखपत्र 'मारवाड़ी सुधार' के संपादक के रूप में कलकत्ता पहुँचे और अंततः 'मतवाला'-मंडल की सदस्य-चतुष्टयी के प्रमुख सदस्य बन गये। तीसरे दशक में प्रकाशित शिवजी की अधिकांश संस्मरणात्मक रचनाओं में संस्मृत व्यक्ति का संक्षिप्त जीवनवृत्त प्रस्तुत हुआ था अथवा उसके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गई थी; और बहुधा संस्मृत व्यक्ति से रचनाकार का व्यक्तिगत संपर्क नहीं था अथवा अत्यल्प था। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद अथवा 'ईश' कवि पर लिखी रचनाएँ इसका उदाहरण हैं, परंतु पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पं. अमृतलाल चक्रवर्त्ती, पं. विनोदशंकर व्यास आदि पर लिखे कई संस्मरण इसका अपवाद भी हैं। यही कारण है कि शिवजी ने ऐसी रचनाओं को, जिनमें संस्मृत व्यक्ति से रचनाकार का व्यक्तिगत संपर्क नहीं था, उन्हें जीवनी या जीवन-चित्र की कोटि में रखा है। इसी दृष्टि से, 1915 में आरा के 'मनोरंजन' में प्रकाशित रचना — 'दीप-निर्वाण' — बालकृष्ण गोखले की मृत्यु पर शोकाच्छ्वास शैली में लिखित एक श्रद्धांजलि है।

तीसरे दशक के संस्मरणों पर यह बात इसलिए भी ज्यादा लागू होती है, क्योंकि इसी दशक में तो वे पहली बार साहित्यिक घटनाओं एवं साहित्यसेवियों के प्रत्यक्षदर्शी-सहयोगी बने थे, जिनकी सघन संवेदनशील अनुभूति कालांतर में उनके संस्मरण-सर्जन का उपजीव्य बनने वाली थी। इसीलिए इसके बाद के तीन दशकों, एवं विशेषतः जीवन के अंतिम दशक में प्रकाशित उनके संस्मरण, साहित्येतिहास की दृष्टि से इतने महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इन परवर्त्ती संस्मरणों में वस्तुतः वर्त्तमान शती के पूर्वार्द्ध के हिन्दी साहित्य का जीवंत इतिहास ही उपलब्ध है।

शिवजी का संस्मरणात्मक साहित्य उनके सृजनात्मक लेखन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश इसी अर्थ में माना जा सकता है। जैसा डॉ. नंदकिशोर नवल ने लिखा है, "संस्मरण, साहित्य की सबसे नाजुक ही नहीं, ख़तरनाक विधा भी है, क्योंकि लेखक असावधान रहा तो यह आत्म-स्तुति और आत्म-प्रक्षेपण का माध्यम बन जाता है और अनाड़ी हुआ तो वह उसके माध्यम से अपने मन की भड़ास निकालने लगता है। शिवपूजन बाबू हिन्दी के दो चार उत्कृष्ट संस्मरण लेखकों में से हैं।" इन संस्मरणों में कथा-लेखन एवं रम्य निबंध-रचना की विशेषताएं तो पर्यवसित हैं ही, इनकी सबसे बड़ी विशेषता — जो इन्हें हिन्दी संस्मरण-साहित्य में अनन्यता प्रदान करती है — संस्मरणकार का संतुलित आत्म-विलयन एवं संस्मृत व्यक्ति के चरित्र एवं परिवेश के अनुरूप शैली का निर्वाह है। इससे संस्मरण-लेखन का जो शिल्प निर्मित होता है वह अप्रतिम होने के कारण श्रेष्ठ संस्मरण-लेखन की एक मानक कसौटी बन जाता है।

शिवजी के संपूर्ण संस्मरण-साहित्य में जो विविधता दृष्टिगोचर होती है उसे हम मुख्यतः निम्नांकित कोटियों में विभाजित कर सकते हैं (1) प्रख्यात साहित्यकारों पर लिखे संस्मरण, (2) विस्मृत अथवा अल्पज्ञात साहित्यसेवियों पर लिखे संस्मरण, (3) संस्थाओं, साहित्यिक आयोजनों अथवा यात्राओं, या काल-विशेष से संबद्ध संस्मरण, (4) साहित्येतर व्यक्तियों पर लिखे संस्मरण अथवा चरित-चित्र, श्रद्धांजलियाँ, तथा (5) श्रद्धांजलि-स्वरूप लिखित संस्मरणात्मक टिप्पणियाँ। इन सभी कोटियों से दो-दो श्रेष्ठ उदाहरण चुने जा सकते हैं (1) निराला, प्रेमचंद; (2) किशोरीलाल गोस्वामी, चंद्रशेखर शास्त्री; (3) कलकत्ता-प्रवास के संस्मरण, सभा का सफल महोत्सव; (4) महामना मालवीयजी, डॉ. सच्चिदानंद सिंह; (5) पं. केदारनाथ शर्मा सारस्वत, पं. लक्ष्मणनारायण गर्दे। इनमें संख्यात्मक दृष्टि से सर्वाधिक संस्मरण क्रमशः पाँचवीं तथा दूसरी कोटियों में परिगण्य हैं। तीन-चौथाई रचनाएँ इन्हीं दोनों कोटियों में रखी जा सकती हैं। निश्चय ही, साहित्येतिहास की दृष्टि से इन्हीं दोनों कोटियों की रचनाएँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनमें शोधोपयोगी असंख्य सूत्र बिखरे हुए हैं। ऐसे सूत्रों का एक रोचक संग्रह 'साहित्य' के 'शिवपूजन स्मृति अंक' में प्रकाशित है। कुछ उदाहरण :

— पं. किशोरीलाल गोस्वामी ने ही 1881 में, आरा में गोपाल मंदिर के पुजारी के रूप में रहते हुए, आर्य पुस्तकालय की स्थापना की थी, जो इस देश में हिन्दी का सबसे पहला सार्वजनिक पुस्तकालय था।

— बाबू हरिश्चंद्र को भारतेंदु की पदवी देने का पहले-पहल प्रस्ताव पं. विनोदशंकर व्यास के पितामह, श्री रामशंकर व्यास ने किया था।

— स्वामी भवानीदयाल संन्यासी ने 1914 में जर्मिस्टन में ट्रांसवाल-हिन्दी-प्रचारिणी सभा स्थापित की थी।

— निरालाजी 'मतवाला' में गरगज सिंह वर्मा के नाम से समालोचनाएँ लिखते थे। उन्होंने 'सरस्वती' में प्रकाशित रचनाओं की समीक्षा कुछ अंकों में लगातार लिखी थी। यद्यपि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तब उसके संपादक नहीं रह गये थे, पर 'सरस्वती' पर उनकी ममता इतनी गहरी थी कि उन्होंने रोषवश 'मतवाला' के उन अंकों का विधिवत संपादन करके डाक से भेज दिया था, जिन्हें देखकर निरालाजी बहुत देर तक अविराम हँसते रह गये थे। महादेवप्रसाद सेठ ने उन द्विवेदी-संपादित अंकों को अपनी तिजोरी में बंद कर दिया था, और वे फिर हमेशा के लिए ओझल हो गये।

— एक बार युवावस्था में भारतेंदु हरिश्चंद्र काशी से एक बारात में आरा आये थे। उस समय लोगों के आग्रह से उन्होंने छब्बीस पंक्तियों में तेरह भाषाओं की लिपियाँ लिखी थीं। उस हस्तलिपि को शीशे में मढ़ाकर मैं अ. भा. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के दशम पटना अधिवेशन में ले गया था। पता नहीं, उसे प्रदर्शनी में किसने गायब कर दिया। उसी के साथ एक हस्तलिखित ग्रंथ, परमानंद कवि-कृत बिहारी सतसई की टीका भी खो गई जिस पर भारतेंदु ने परमानंद कवि को पाँच सौ रुपया पुरस्कार दिया था।

— प्रसादजी कभी किसी कवि-सम्मेलन में नहीं जाते थे। मित्र-गोष्ठी में सस्वर कविता-पाठ करते थे। किंतु काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के कोशोत्सव-स्मारक के अवसर पर जीवन में केवल एक ही बार उनको सार्वजनिक समारोह में कविता-गान करना पड़ा था।

ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य संस्मरणों के इस विशाल कोष में संचित हैं। प्रसाद, निराला और प्रेमचंद के संस्मरणों में भी उनके व्यक्तित्व की बहुत-सी रंगारंग, अंतरंग बातें ज्ञात होती हैं, जैसे — प्रसादजी के व्यक्तित्व का यह पक्ष कि वे वेद, उपनिषद् और संस्कृत साहित्य के पंडित तो थे ही, हाथी, घोड़ा, गाय आदि के लक्षणों की परख अथवा हीरा, मोती, मूँगा आदि रत्नों के गुण-दोषों के प्रभाव का उनका विशद ज्ञान भी विस्मयकारी था। उसी प्रकार उनके पास बनारस के पुराने रईसों, पंडितों, नर्तकों, लावनीबाजों, गुंडों, गायिकाओं और फक्कड़ों की असंख्य और अद्भुत कहानियाँ थीं। पहलवानों के अजीब किस्से तो सुनाते ही थे, दाँव-पेंच के बहुतेरे नाम भी उन्हें याद थे। सुनारों और मल्लाहों की बोली या व्यापारियों के दलालों की बोली की रहस्यमय शब्दावली का भी उनका ज्ञान विलक्षण था।

शिवजी के संपूर्ण संस्मरण-साहित्य में निराला पर लिखे उनके संस्मरण निश्चय ही अन्यतम हैं। उनमें निराला को एक महामानव — 'देवोपम पुरुष' की संज्ञा दी गई है। यह स्वीकारते हुए कि निराला की रचनाओं पर विचार करने का यह अवसर नहीं है, केवल उनकी भाषा की असाधारण परख पर ही कुछ पंक्तियाँ लिखी गई हैं — "भाषा की प्रकृति, शैली, धारा और शुद्धता परखने में उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। हिन्दी के स्वरूप को निष्कलंक बनाये रखने के लिए ही वह शब्द-योजना और वाक्य-विन्यास पर गहरी निगाह रखते थे। भाषा की खूबियों और खामियों पर उनके समान सूक्ष्मेक्षिका दृष्टि रखने वाला कोई सजग प्रहरी अब नहीं सूझ पड़ता।" किंतु, इन संस्मरणों में शिवजी ने निराला के लिए 'पूज्य', 'दीनबंधु', 'त्यागमूर्त्ति', 'आदर्श महापुरुष' जैसे विशेषणों का प्रयोग करके उनके व्यक्तित्व की महानता को दर्शाने का प्रयास किया है। साथ ही, कुछ ऐसी बातें बताई हैं जो अत्यंत रोचक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे, निराला एक बहुत अच्छे अभिनेता भी थे, यद्यपि वे कलकत्ता के हिन्दी रंगमंच पर मित्रों के बहुत आग्रह के बावजूद कभी उतरे नहीं। "कई बार उन्होंने अभिनय की भावभंगी के साथ अपनी 'पंचवटी' कविता सुनाई थी। बंगला के अभिनय भी दिखलाये थे।" जब निराला शिवजी और प्रसादजी के सानिध्य में काशी में थे, तब अक्सर मध्य गंगा में बजरे पर कविता-पाठ भी हुआ करते थे। "निरालाजी ने हारमोनियम बजाकर 'श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन' पद गाया था। साहित्य और संगीत दोनों शास्त्रों में उनकी असाधारण गति देखकर प्रसादजी बहुत प्रभावित हुए थे।" एक और अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूचना उसी संस्मरण में है — "निरालाजी खड़ी बोली की नई धारा के क्रांतिकारी कवि तो थे ही, ब्रजभाषा के भी रससिद्ध कवि थे। मारवाड़ी चित्रकार पं. मोतीलाल शर्मा (कलकत्ता) की चित्रावली में प्रत्येक चित्र के नीचे उनका लिखा ब्रजभाषा का पद्यात्मक चित्र-परिचय प्रकाशित हुआ था।" प्रेमचंद वाले संस्मरण में भी एक ऐसी ही मनोरंजक सूचना मिलती है — "प्रेमचंदजी के साथ कितनी ही संध्याएं अमीनाबाद-पार्क में हरी घास पर बैठे बीतीं। 'रंगभूमि'में सूरदास का स्वांग रचने वाले प्रकृत व्यक्ति की सच्ची कहानियों पर कितने ही कहकहे उड़े।" या फिर प्रेमचंदजी के सखुन-तकिया की चर्चा — "सरस्वती प्रेस में घंटों बैठकबाजी होती थी। पान की गिलौरियों का दौर चलता रहता था। लखनऊ के विचित्र पान की चर्चा करते हुए खूब हँसा करते थे — अपने मशहूर सख़ुन-तकिया की बौछारों से लखनवी पान का खूब सम्मान करते थे। खुद कहते भी थे — यह तकिया- कलाम तो उर्दू-साहित्य-गोष्ठी का प्रसाद है। गनीमत है कि बोलने की तरह लिखने में यह नहीं टपक पड़ता। कहीं किसी के खत में लिख जाय, तो दोनों की मिट्टी खराब हो।"

शिवजी के संस्मरण-साहित्य में आधुनिक हिन्दी साहित्य का जीवंत इतिहास अपनी पूरी विविधता एवं विपुलता में उपलब्ध है। इन "संस्मरणों में कई ऐसी रचनाएँ

हैं जिनमें इतिहास की धड़कनें सुनी जा सकती हैं। उसके कोने अँतरे दिखाई पड़ते हैं। वे मानों हिन्दी साहित्य की हवेली के भीतर का हिस्सा हों जहाँ आंगन और कमरों की आपसदारी की सुरक्षित निजता अपने स्वारस्य और अनुराग, माया-मोह और अपनापे के साथ कायम है।" (डॉ. भृगुनंदन त्रिपाठी)। एक ओर जहाँ प्रख्यात व्यक्तियों के संस्मरण उनके व्यक्तित्व के अंतरंग चित्र प्रस्तुत करते हैं और उस पूरे परिवेश को आलोकित करते हैं जिसमें उस युग के मूल्य पोषित और संवर्द्धित हो रहे थे, वहीं अल्पज्ञात और विस्मृतप्राय साहित्यसेवियों के संस्मरण अनेक ऐसे मोहक प्रसंग एवं महत्त्वपूर्ण तथ्य उजागर करते हैं जिनके बिना साहित्येतिहास एक शुष्क, प्राणहीन आकृति-भर बनकर रह जायेगा। भारतेंदु-युग से छायावादोत्तर युग तक के साहित्यिक-सांस्कृतिक परिवेश का एक मनोहारी चलचित्र जैसा इन संस्मरणों में देखा जा सकता है। कलकत्ता-प्रवास के संस्मरणों में पारसी थियेटरों में हिन्दी के लेखकों के शोषण एवं अपमान का जैसा मार्मिक चित्र खींचा गया है उससे हिन्दी लेखकों के जीवन-संघर्ष का अनुमान होता है। परिशिष्ट में उद्धृत पं. किशोरीलाल गोस्वामी के संस्मरणांश में अथवा मतवाला-मंडलाधीश महादेवप्रसाद सेठ के संस्मरण के इस अंश में जैसे चित्र अंकित हुए हैं उनमें एक पूरा युगबोध मुखरित हो उठता है :

"सेठजी सुरुचि-संपन्न सौंदर्योपासक थे। जड़ पदार्थ का भी सौंदर्य उनके लिए आकर्षक था। किसी व्यक्ति के किसी एक अंग का सौंदर्य भी उनकी प्रशंसा का पात्र बन जाता था। वे कभी-कभी निरालाजी की मुसकराती हुई आँखों और उग्रजी की सुनहरी जुल्फों की तारीफ किया करते थे। देखे हुए सौंदर्य की समीक्षा वे बड़ी बारीकी से करते थे। एक बार चिड़ियाखाने में एक रंगीन चितकबरा पहाड़ी साँप देखकर लगभग आधा घंटे तक उसकी शोभा निरखते रहे। बोटानिकल गार्डन में एक वृक्ष से लिपटी हुई लता देखकर झूमने लग गये। जब सावन की घटा घुमड़ती और बिजली कौंधती, तब सब काम छोड़ छत पर अपनी एकांत कोठरी में जाकर छवि-छटा देखने में तन्मय हो जाते। उनका कथन था कि सौंदर्य में स्रष्टा का ऐश्वर्य देखना चाहिए। सौंदर्य-दर्शन में उनकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि रास्ता चलते कहीं घोड़े की सुंदर कनौती देख लेते, तो क्षण भर ठिठक जाते। किन्तु उनकी सौंदर्योपासना में कोई वासना नहीं थी।"

जीवन के अंतिम वर्षों में शिवजी ने कुछेक शब्द-चित्र भी लिखे थे। उनका एक शब्द-चित्र 'महेस पांड़े' प्रयाग से प्रकाशित 'संकेत' में छपा था। चित्रांकन की जो सधी शैली इन शब्द-चित्रों में दिखाई देती है — 'मंझोला कद। गठीला बदन। रोबीली आंखे। शिला जैसी छाती। घनी भौंहे और मूँछें। मुग्दर की तरह पीन-प्रबल भुजदंड। वृकोदर भीम का पेट और सुदामा की ग़रीबी।" — वह शिवजी के संस्मरणों में जगह-जगह स्मृतिचित्रों को सघन बनाती है। उदाहरण के लिए पं. कृष्णबिहारी

मिश्र, 'माधुरी'-संपादक, का यह चित्र — "चुस्त पाजामा और बटनदार अंगरखा, गाँधी टोपी और चश्मा, घड़ी और छड़ी। मझोला कद, पान से रंगे दांत, अंगूठिया बालवाली मूछों में डूबी मुस्कान, बातों में मार्मिक सूझ, भाषा में आडंबरशून्यता, रहन-सहन में कुलीनता की छाप, स्वभाव में मिलनसारी की मिठास, यही मिश्रजी का अत्यंत संक्षिप्त परिचय है।"

निस्संदेह, शिवजी का संस्मरण-साहित्य उनके रचनाकर्म का अत्यंत विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रस्तुत करता है। अपनी विपुलता एवं विविधता में वह शिवजी के साहित्यिक जीवन का संचित एवं सुरभित मधुकोष है। जीवन-भर उनमें एक आकुलता बनी रही पुरानी पीढ़ी के साहित्यकारों से संस्मरण एवं आत्मकथा लिखवाने एवं संग्रह करने की। 'संग्रही नावसीदति' उनके जीवन-दर्शन का मूलमंत्र रहा। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि शिवजी ने अपने जीवनकाल में संचित स्मृतियों का जो कोष हिन्दी साहित्य के हवाले किया वह उसकी अनमोल धरोहर है। जो संचित होने से रह गया, उसकी तुलना में जो संचित संस्मरण-राशि उपलब्ध है, उसका मूल्य निश्चय ही अकूत है।

लगभग यही स्थिति उनकी डायरियों की भी है। छात्र-जीवन से ही नियमित डायरी-लेखन का उनका अभ्यास बना रहा, किंतु कई दुर्घटनाओं में 1906 से 1940 तक की डायरियां गुम हो गईं। इस समय की एकाध छिटफुट डायरियां तथा कुछ पुराने नोटबुक आदि बच रहे हैं, पर 1941 से लगातार 1962 तक की डायरियां उपलब्ध हैं। जनवरी, 1963 में कुल बारह दिनों की लिखी डायरी उपलब्ध है क्योंकि 13 जनवरी से प्रारंभ होने वाला अशुभ सप्ताह ही उनके जीवन का अंतिम सप्ताह रहा। जो डायरियां कलकत्ता, लखनऊ और काशी-प्रवास के दिनों में लिखी गई होंगी, उनमें कितनी दुर्लभ और अमूल्य सामग्री रहीं होगी, बाद की उपलब्ध डायरियों की सामग्री का महत्व देखते हुए इसका अनुमान कठिन नहीं है। इन उपलब्ध डायरियों से चयित कुछ सामग्री पिछले वर्षों में कई पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही है। यहाँ परिशिष्ट में भी एक नवीन प्रतिनिधिक संचयन प्रकाशित है। शिवजी ने अपने डायरी-लेखन के विषय में अपनी डायरियों में ही यत्र-तत्र अपने विचार व्यक्त किये हैं जिनसे उनके दैनंदिनी-लेखन का विशिष्ट दृष्टिकोण आलोकित होता है। इस प्रसंग में उनकी ये पक्तियाँ उद्धरणीय हैं :

"रात की एकांत शांति में डायरी लिखते समय यह भाव मन में उठा कि नित्य दिनचर्या लिखने से क्या लाभ है। बहुत सोचने पर अंदर से आवाज आयी कि दिनचर्या से मनुष्य के जीवन की परख होती है। यदि सच्चाई के साथ दिनचर्या लिखी जाय तो मनुष्य-जीवन के अनेक रहस्यों का उद्घाटन हो सकता है। किन्तु दिनचर्या लिखते समय अपने अनुभवों और विचारों को भी अंकित करना चाहिए, शर्त यही है कि

वे अनुभव कल्पित न हों, विचार कृत्रिम न हों। आख़िर क्या प्रमाण है कि मेरे अनुभव मनगढ़ंत नहीं हैं — मेरे विचार बनावटी नहीं हैं? बस प्रमाण के साक्षी राम हैं। हे प्रभो ! जो सच्चाई का अंश हो उसे दुनिया में रहने देना, असत्य का अंश तो कभी टिकाऊ होता ही नहीं।"

शिवजी का डायरी-लेखन उनकी पूजा-प्रार्थना की तरह उनके दैनिक जीवन का अभिन्न अंग था। इसीलिए उनकी डायरी में रोष, आवेश अथवा कलुष की गंध कहीं नहीं मिलेगी। वे दिन भर की घटनाओं अथवा तज्जन्य विचारों को डायरी के छोटे पृष्ठों में ही सीमित करते हुए, अपने एकांत क्षणों में सच्चाई की चलनी में छानकर लिखते थे। पृष्ठ के आकार की सीमा में पूरी तरह बंधकर डायरी लिखने का यह संयम उनके डायरी-लेखन को जो ख़ास रचाव-कसाव प्रदान करता है, वह निश्चय ही अति-विशिष्ट है। उनकी उपलब्ध डायरियों में यद्यपि दैनंदिन विवरण वाली डायरियाँ ही अधिक हैं, लेकिन एक तिहाई से अधिक डायरियों में केवल विचार अथवा नैतिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक, सामाजिक विषयों पर सुचिंतित मंतव्य अंकित हैं। इन विषयों से संबद्ध कुछ प्रतिनिधिक प्रविष्टियां परिशिष्ट में उद्धृत हैं, जिनसे शिवजी के डायरी-लेखन का एक जायजा लिया जा सकता है। अपने को ही पूरी तरह सच्चाई की कसौटी पर कस देना डायरी-लेखक के लिए कठोरतम आत्मानुशासन की मांग करता है; और निस्संदेह शिवजी इस कसौटी पर शतशः खरे उतरे हैं। शिवजी की गद्य-शैली में अभिरुचि रखनेवाले अध्येताओं को उसकी पूरी गहराई, गागर में सागर वाली संप्रेषणीयता एवं ऊर्जस्विता का एक विस्मयकारी साक्षात्कार उनकी डायरियों में मिलेगा। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि अपनी संपूर्णता में प्रकाशित और उपलब्ध हो जाने के बाद शिवजी का डायरी साहित्य हिन्दी साहित्य को उनका संभवतः सर्वाधिक मूल्यवान प्रतिदान होगा।

घ. पत्रकारिता एवं संपादन

अगस्त, 1916 में बिहार के शाहाबाद जिले में गंगा की भयंकर बाढ़ आई थी। इस बाढ़ में पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के कई जिले बाढ़ की विनाशकारी चपेट में पड़े थे। इसकी एक विस्तृत रिपोर्ट तथा सहायतार्थ अपील पटना से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक 'पाटलिपुत्र' के 16 और 30 सितंबर के अंकों में प्रकाशित हुई थी। अखबार के पूरे ढाई पृष्ठों में फैले इस रिपोर्ट में बाढ़ की भयंकर विनाशलीला का जो चित्र खींचा गया था और राहत-कार्य का जो विवरण और जो अपील छपी थी उसके लेखक थे आरा के. जे. एकेडमी के हिन्दी अध्यापक, शिवपूजन सहाय। उन्होंने स्वयं छात्रों के साथ जाकर गाँवों में राहत बाँटने का काम किया था और बाढ़ से हुई बरबादी का हाल अपनी आँखों देखा-जाना था। वर्ग में छात्रों को पढ़ाने और स्वांतः सुखाय साहित्य-रचना करने के साथ ही वे पूरी तरह देश और समाज

के दुख-दर्द से जुड़े हुए थे। साहित्यसेवा के साथ ही समाजसेवा और राष्ट्रसेवा के प्रति भी वे पूर्णतः समर्पित थे। आरा की सेवा समिति और मारवाड़ी सुधार समिति को वे अपनी सेवाएं देते रहे थे, और असहयोग आंदोलन में कांग्रेस के एक सक्रिय कार्यकर्त्ता के रूप में उन्होंने राष्ट्रीयता और समाज-सुधार की चेतना आसपास के गाँवों में फैलाने का काम महीनों उत्साहपूर्वक किया था। देश और समाज जब ऐसे संक्रांतिकाल से गुजर रहे थे, उन्होंने स्कूल की सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देकर पत्रकारिता का कठिन मार्ग राष्ट्रसेवा के निमित्त ही चुना। राष्ट्रीय चेतना की जो तेज लहर सारे देश को आप्लावित कर रही थी उसमें अपनी लेखनी को भेंट चढ़ाने की तीव्राकांक्षा सर्वथा स्वाभाविक थी। उस युग की पत्रकारिता जहाँ एक ओर राष्ट्रोत्थान के प्रति समर्पित थी, वहीं दूसरी ओर वह साहित्यिक मूल्यों से भी पूरी तरह संपृक्त थी। वास्तव में, उस समय देशकाल की परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं कि राष्ट्र, समाज और साहित्य—तीनों ही अपनी बेड़ियों और रूढ़ियों को तोड़ने को आतुर थे, और पत्रकारिता उसके लिए एक अत्यंत कारगर तदबीर थी।

शिवजी का पत्रकार-जीवन 'मारवाड़ी सुधार' के संपादन से प्रारंभ होता है। यह आरा की मारवाड़ी सुधार समिति का मासिक मुखपत्र था, और इसका उद्देश्य मूलतः मारवाड़ी समाज में सुधार और उत्थान की चेतना जगाना था। यद्यपि शिवजी इसके जातीय स्वरूप को अधिक से अधिक साहित्यिक बाना पहनाना चाहते थे, और इसमें बहुधा नटवर, वियोगी हरि, हरिऔध, माधव शुक्ल, लाला भगवान दीन आदि सुख्यात साहित्यकारों की रचनाएं भी छपती रहती थीं। किन्तु 'मनोरंजन' और 'लक्ष्मी' जैसी शुद्ध साहित्यिक पत्रिकाओं जैसा स्वरूप इसे देना संभव नहीं था, और न इसे एक व्यापक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य ही दिया जा सकता था। फिर भी प्रथमांक के संपादकीय वक्तव्य की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"यह कहना अनुचित न होगा कि मारवाड़ी जाति में सामाजिक सुधारों की बेहद गुंजाइश है। भारत की सबसे धनाढ्य जाति की जब यह दशा है तब भला इस देश का शीघ्र कल्याण कैसे हो सकता है ! . . . इस जाति के लोगों में शिक्षा का सरासर अभाव है। मालदार मारवाड़ियों के पासंग में भी विद्वान मारवाड़ी नहीं हैं; क्योंकि मारवाड़ियों को विद्या से बहुत कम अनुराग है! . . . इस 'सुधार' का जन्म उसी दिन चरितार्थ होगा जिस दिन इसके द्वारा मारवाड़ी भाईयों में जातीय गौरव जाग उठेगा, राष्ट्रभाषा हिन्दी का अविरल अनुराग उत्पन्न हो जायगा और उनका हृदय देशाभिमान के भव्य भावों का भरपूर भांडार हो जायगा।"

'मारवाड़ी सुधार' यद्यपि एक जातीय संगठन का मुखपत्र था जिससे उसका मूल स्वरूप निर्धारित होता था, फिर भी अपनी संपादकीय टिप्पणियों में शिवजी बराबर हिन्दी और हिन्दुस्तान के हित की चर्चा करते रहे। वह गणेशशंकर विद्यार्थी की गिरफ़्तारी हो, भवानीदयाल संन्यासी की दक्षिण अफ्रीका में हिन्दी सेवा हो, अथवा पं. बदरीनारायण

चौधरी 'प्रेमघन' का महाप्रयाण हो — शिवजी की संपादकीय कलम सबका लेखाजोखा लेती चलती थी। उसकी तीखी नोंक अक्सर राजनीतिक विषयों पर भी चोट करती थी! अंग्रेज सरकार की नमक-नीति पर इन पंक्तियों में करारी चोट की गई है — "नमक पर अब पहले से दूना टैक्स लगा दिया गया। . . . जिस राज्य में अन्न की महंगी है, उस राज्य में नमक की महँगी तो रहनी ही चाहिए। जब अन्न का ही टोटा है, तब खाली नमक कौन खायेगा? इसीलिए नमक-कर दूना बढ़ाकर वायसराय महोदय ने भूख की भयंकर ज्वाला से जलने वाले असंख्य ग़रीब भारतीयों को यह स्पष्ट दिखला दिया है कि देखो, जले पर नमक यों छिड़का जाता है।"

'मारवाड़ी सुधार' का संपादन करते हुए ही शिवजी का परिचय पटना सिटी के मारवाड़ी व्यवसायी दीनानाथ सिगतिया से हुआ। उनकी दो-एक रचनाएँ 'मारवाड़ी सुधार' में छपी भी थीं। कलकत्ते में उनका प्रकाशन व्यवसाय था जहाँ से शिवजी की पुस्तक 'भीष्म पितामह' मार्च, 1923 में प्रकाशित हुई थी। 'मारवाड़ी सुधार' के प्रकाशन के दूसरे वर्ष में शिवजी सिगतिया द्वारा प्रकाशित साहित्यिक मासिक 'आदर्श' का भी संपादन करने लगे थे। यह एक शुद्ध साहित्यिक मासिक था, जिसके दूसरे अंक (दिसंबर, 1922) में निराला की 'जुही की कली' प्रकाशित हुई थी (जो पुनः 'मतवाला' में दिसंबर, 1923 में छपी)। नाम के अनुरूप इसमें भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के आदर्शों को प्रतिष्ठापित किया जाता था। इसकी अधिकांश सामग्री शिवजी कल्पित नामों से लिखकर पूरा करते थे। जातीय संगठन का मुखपत्र होने के नाते 'मारवाड़ी सुधार' से जो साहित्यिक अपेक्षाएँ पूरी नहीं हो पाती थीं, शिवजी शायद उनको 'आदर्श' के माध्यम से पूरा करना चाहते थे। 'आदर्श परिचय' नामक उनकी प्रस्तावित पुस्तक में जो निबंध संकलित हैं, वे 'आदर्श' के ही अग्रलेखों के रूप में लिखे गये थे। कुछ ऐसा संयोग घटित हुआ कि मई-जून, 1923 तक 'आदर्श' और 'मारवाड़ी सुधार' दोनों ही पत्र लड़खड़ाने लगे। 'आदर्श की भ्रूण-हत्या' शीर्षक अपनी संपादकीय टिप्पणी में (जिसकी चर्चा जीवन खंड में भी हुई है) शिवजी ने लिखा—

"मेरे हाथ में दो पत्र हैं। एक तो यह 'मारवाड़ी सुधार' और दूसरा 'आदर्श'। दोनों ही के प्रकाशक मारवाड़ी हैं। यह 'सुधार' तो मारवाड़ियों की एक सार्वजनिक संस्था का मुखपत्र है, पर 'आदर्श' एक खास व्यक्ति की निजी संपत्ति है। ईश्वर की कृपा से दोनों ही पत्र मुझे ऐसे मिले कि भाग्य को कोसने के सिवा और कोई चारा नहीं। मारवाड़ी-समाज की उदासीनता से 'सुधार' का बेड़ा शुरू से ही मझधार में अटका पड़ा है और 'आदर्श' का बेड़ा तो तीर ही की रेत में धंस गया। पाँच अंक निकलकर 'आदर्श' बंद हो गया। पाँच अंकों में भी एक अंक दो महीने की संयुक्त संख्या के रूप में निकला। छठे और सातवें अंक के फर्मे छपे-छपाये पड़े हुए हैं। . . . इस तरह मारवाड़ी घिस-घिस में पड़कर मेरे दोनों पत्र झूल रहे हैं।"

देश और साहित्य की सेवा का जो आदर्श और संकल्प लेकर शिवजी पत्रकारिता के क्षेत्र में आये थे उसे खंडित होता देख शिवजी निराश होने लगे थे। अनिश्चय और अवसाद के इन्हीं महीनों में अचानक एक दिन वह साहित्यिक संयोग घटित हुआ जिसमें 'मतवाला' के प्रकाशन की योजना बनी। शिवजी इन दिनों बालकृष्ण प्रेस में ही रहने लगे थे — महादेव प्रसाद सेठ और मुंशी नवजादिक लाल के साथ। निराला भी उसी मकान में रहते थे।

"सेठजी और मुंशीजी का आग्रह हुआ कि हास्यरस का एक सुंदर साप्ताहिक पत्र निकाला जाय। यह प्रेरणा बंगला के हास्यरसात्मक साप्ताहिक 'अवतार' से मिली। मुंशीजी 'अवतार' के अंक प्रायः बराबर लाते और पढ़ सुनाते। उसके मार्मिक व्यंग्य-विनोदों से हमलोग प्रभावित हुए। दृढ़ निश्चय किया गया कि 'मतवाला' नामक साप्ताहिक पत्र अवश्य ही निकाला जाय। मुंशीजी ने ही पत्र का नामकरण किया- 'मतवाला'। निर्णय हुआ कि मुखपृष्ठ के लिए निरालाजी प्रति सप्ताह अपनी कविता देंगे; मैं अग्रलेख, संपादकीय और 'चलती चक्की' नामक स्तंभ के लिए विनोदपूर्ण टिप्पणियाँ भी लिखा करूंगा; मुंशीजी "मतवाला की बहक" नामक स्तंभ के लिए व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ लिखा करेंगे; समालोचनाएँ भी निरालाजी ही लिखेंगे; अन्य सारी सामग्री का संपादन और पूरे पत्र का प्रूफ़शोधन मुझे करना पड़ेगा; संपादक के रूप में सेठजी का नाम छपेगा।"

यह सारी योजना 21 अगस्त, 1923 को बनी। स्तंभ-शीर्षक चुने गये, चारू बाबू चित्रकार ने मुखपृष्ठ के लिए नटराज का चित्र बनाया। निराला ने कविता और समालोचना लिख डाली। व्यंग्य-टिप्पणियाँ भी तैयार हो गईं, जिन्हें शिवजी और मुंशीजी ने मिलकर लिखा। शनिवार, 26 अगस्त, 1923 को पहला अंक बाजार में पहुँच गया, और "पहले ही दिन धूम मच गई"। मतवाला का प्रचार और व्यापार जैसे-जैसे बढ़ता गया सेठजी और मुंशीजी उसके व्यवस्था-पक्ष में अधिकाधिक व्यस्त होते गये। मुंशीजी को भी अब कुछ लिखने का अवकाश मुश्किल से मिलता। "इस तरह 'मतवाला की बहक' का बोझ भी मेरे ही ऊपर आ पड़ा। मुंशीजी कभी-कभी यथावकाश कुछ लिख दिया करते। वह और सेठजी जब अख़बार पढ़ने का अवसर पाते तब उसमें निशान लगाकर मेरे पास उसपर टिप्पणी जड़ने के लिए भेज देते।" यह सिलसिला तबतक ठीकठाक चला जबतक शिवजी के मन में पारिश्रमिक को लेकर कुछ क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ था। 'मतवाला'-मंडल के विघटन का प्रारंभ तभी हुआ जब शिवजी के मन में सेठजी के व्यवहार से क्षोभ उत्पन्न हुआ। यही उनके 'मतवाला' छोड़कर 'माधुरी' में जाने का कारण बना। 'मतवाला'-मंडल के विघटन की अनकही कहानी तभी पूरी तरह उजागर हो सकेगी जब 'मतवाला'-मंडल से संबद्ध पूरा पत्राचार प्रकाशित

होगा, जिसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश शिवजी के साहित्यिक संग्रहालय में सुरक्षित है।

'मतवाला' के अग्रलेख कुछ अपरिहार्य कारणों से 'शिवपूजन रचनावली' में संकलित नहीं हो पाये थे। यद्यपि 'रचनावली' के संपादन-क्रम में शिवजी ने 'मतवाला' के अपने अग्रलेखों को संकलन के लिए प्रतिलिपित करा लिया था, और बहुत सारे अपने लिखे अग्रलेखों के रिप्रिंट भी जमा करा लिये थे। उसी प्रकार "चलती चक्की" और "मतवाले की बहक" की अपनी लिखी बहुत-सी टिप्पणियों को भी चुनकर प्रतिलिपित करा लिया था। ये सारे हिगराये हुए अग्रलेख और व्यंग्य-टिप्पणियां उनके संग्रहालय में सुरक्षित हैं, और कम-से कम उतनी सामग्री के विषय में यह मान लेने में कोई कठिनाई, इसी कारण, नहीं होनी चाहिए कि वे शिवजी द्वारा लिखी गई हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने महादेव प्रसाद सेठ के उस पत्र का हवाला भी दिया है, जिसके अनुसार शिवजी के 1931 में अपने उन अग्रलेखों को पुस्तकाकार संकलित करने के विचार पर, 9 सितंबर, 1931 के अपने पत्र में सेठजी ने शिवजी को लिखा था— " 'मतवाला' में आपके जो अग्रलेख छपे हैं, उन्हें आप बड़ी खुशी से बिना किसी संकोच के संग्रह कर सकते हैं। मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

यह तो निर्विवाद है कि पहले तीस अंकों के संपादकीय अग्रलेख शिवजी के लिखे हुए हैं, क्योंकि 15 मार्च, 1924 के होलिकांक का संपादन करने के बाद ही शिवजी 'मतवाला'-मंडल से अलग हुए थे। लेकिन दुलारेलाल भार्गव के व्यवहार से भी क्षुब्ध होकर जब वे लखनऊ से जनवरी, 1925 में कलकत्ता वापस हुए, और प्रत्यक्षतः 'मतवाला' से अलग-थलग रहते रहे, तब भी 'मतवाला' के अग्रलेख बहुधा वही लिखते रहे, इसके प्रमाण में सेठजी के 1.7.'25 के पत्र की ये पंक्तियाँ डॉ. रामविलास शर्मा ने उद्धृत की हैं—"लीडर आप लिखते हैं, इसका अनुमान तो मैं लीडर पढ़कर ही कर लिया करता था। परंतु आप तीन महीने से एकदम अलग हैं यह खबर नहीं थी।" पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा के 20.7.'25 के पत्र में भी ऐसी हो पंक्तियां हैं - "तुम कहते हो कि 'मतवाला' में जाता ही नहीं; पर लीडर तो बीस बिस्वे तुम्हीं हरदम लिखते हो। कहो तो मैं इसका पक्का प्रमाण दे दूँ।" (**प्रेमचंदः पत्र-प्रसंग,** 55-56)

इस बात का निर्णय करना कि कितने अग्रलेख, और कितनी टिप्पणियाँ किसकी लिखी हैं, कठिन तो है, पर बिलकुल असंभव भी नहीं। 'मतवाला'-मंडल के संपूर्ण पत्राचार की छानबीन करने पर और शैली-विज्ञान के सिद्धांतों का प्रयोग करके इस बात का फैसला शायद अंतिम रूप से किया भी जा सकता है। पर यह तय करने के लिए कि शिवजी का 'मतवाला' को क्या योगदान था, शायद इतने श्रम की आवश्यकता ही नहीं; और फिर 'मतवाला' में उग्र के आने के पहले, और जब तक

निराला और शिवजी उससे सक्रिय रूप से जुड़े रहे थे, 'मतवाला' की सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि इसका तेवर, अंदाजे-बयां, चुटीलापन, अलमस्ती - सब कुछ जो इसके अंग-प्रत्यंग से छलकता-फूटता रहता था, एक ऐसी अपूर्व कीमिया से तैयार होता था जिसका विश्लेषण एक निरर्थक प्रयास-मात्र होगा।"

"शाम को रोज बनारसी बूटी बनती थी। भंग छानने के बाद कुछ घंटे हमलोगों की सम्मिलित बैठक होती थी। उसमें अखबार की खबरों पर विचार-विनिमय होता था। देश, समाज, धर्म और साहित्य से संबंध रखनेवाले महत्वपूर्ण समाचारों और ज्वलंत राजनीतिक समस्याओं पर सूझ-बूझ भरी टिप्पणियाँ लिखने के लिए निश्चय किया जाता था। भंग की तरंग में सेठजी की सूझ-बूझ बड़ी निराली होती थी। मुंशीजी भी स्वाभाविक हास्य-विनोद लिखने में बड़े सिद्धहस्त थे। निरालाजी की कविताओं ने भी 'मतवाला' की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बढ़ाई।"

शिवजी के 'मतवाला'-मंडल के संस्मरणों को ध्यान से पढ़ने पर यह साफ झलकने लगता है कि 'मतवाला' की संपादकीय नीति के निर्धारण से लेकर उसके अग्रलेख और टिप्पणियों आदि संपूर्ण सामग्री पर सेठजी के व्यक्तित्व की कैसी गहरी छाप थी। "मतवाला के लिए उनका फरमान था कि चाहे कोई कितना भी बड़ा हो, जरा भी लचे तो धरकर रगड़ डालो। जेल जाने के लिए वे हमेशा तैयार रहते थे। बराबर उत्तेजना देते रहते थे कि निर्द्वंद्व होकर खूब मस्ती से लिखो, जो आ पड़ेगा से झेला जायगा। आखिर उनको जेल जाना ही पड़ा। तब भी 'मतवाला' के स्वर की बुलंदी उन्होंने बराबर कायम रखी। उनकी ज्वलंत देशभक्ति किसी स्थिति में किसी क्षण मंद नहीं पड़ी। उनकी सदैव यही इच्छा रहती थी कि 'मतवाला' की कसौटी हरदम खरी रहे और सच्ची बात कहने में कभी किसी का मुलाहजा न किया जाय।"

शिवजी ने उन्हीं संस्मरणों में लिखा है कि 'मतवाला' की कलकत्ते में ऐसी धाक थी कि "जिस विषय पर वह लिखना शुरू करता था उस विषय के क्षेत्र में हड़कंप मच जाता था। हिन्दू महासभा के विरोधी सनातनी सज्जनों का भंडाफोड़ करने में उसने इतनी निर्भीकता से काम लिया कि सनातनी भाइयों को धर्म-रक्षिणी-सभा कायम करके 'धर्म-रक्षक' साप्ताहिक निकालना पड़ा। पारसी थियेटर कंपनियों को भी उसने बहुत निडर होकर रगड़ा। फिर तो ऐसा तहलका मचा कि पारसी कंपनी के नाटक-लेखक 'मतवाला'-मंडल में स्वयं पधारकर पनाह माँगने लगे।"

अक्तूबर, 1923 के लगातार चार अंकों में "नाटकों का पितरपख", "भैंसासुर की नानी", "चूड़ी साड़ी की जय बोलो" और "आख थू!" शीर्षक अपने चार अग्रलेखों में शिवजी ने कलकत्ते की पारसी नाटक कंपनियों पर जो धुंआधार हमला किया उसकी एक बानगी इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है —

"जनता को बुद्धू बनाकर तोड़े ऐंठना और विदेशी वस्तुओं के चाकचिक्य से उसकी आंखों में चकाचौंध पैदा करना - यही पारसी कंपनियों का प्रधान लक्ष्य है। पात्र और पात्री नशे में चूर, दर्शकगण बांकी तिरछी चितौनों में चूर, थियेटर के डाइरेक्टर धन-मद में चूर, अगड़धत्त नाटककार पेट की चिंता में चूर, चारों ओर चकनाचूर, सब काम बे-दस्तूर। किन्तु जब तक हैं 'शरीफा' और 'अंगूर' [वेश्या अभिनेत्रियों के नाम] तबतक नाचते ही रहेंगे लंगूर और माल भी मिलेगा भरपूर — इसीलिए तो समालोचक भी हैं मजबूर।"

कलकत्ते की पारसी नाटक कंपनियों के हिन्दी नाटक लेखकों में पं. नारायण प्रसाद 'बेताब', पं. तुलसीदत्त 'शैदा', बाबू हरिकृष्ण 'जौहर', आगा हश्र आदि प्रमुख थे। निरालाजी ने "कसौटी" स्तंभ में कई नाटकों की शव-परीक्षा की थी, और मुंशीजी ने भी हिन्दी 'बंगबासी' के 10 दिसंबर, 1923 अंक में छपी इन नाटकों की लचर तरफदारी की "चोरी और सीनाजोरी" शीर्षक अपने लेख ('मतवाला', 22.12.'23) में खूब खबर ली थी। रोचक बात यह थी कि ये सभी नाटक-लेखक 'मतवाला'-मंडल में अक्सर आते-जाते रहते थे। पर 'मतवाला' का विरोध उनसे नहीं था, बल्कि पारसी नाटक कंपनियों से था जो समाज की नैतिकता को विषाक्त कर रहे थे। स्वयं जौहर जी ने 'मतवाला'-मंडल में यह साफ स्वीकार किया था कि कंपनी के नाटककारों को सुरूचिपूर्ण नाटक लिखने की स्वतत्रता नहीं है।" कंपनी की नीति से वे भी सहमत नहीं थे, पर रोज़ी-रोटी की मजबूरी में उन लोगों को ऐसे नाटक लिखने पड़ते थे। मुंशीजी के सामने जब उन्होंने हाथ जोड़कर, आंखों में आंसू भरकर अपनी बेबसी बयान की, तब 'मतवाला' ने पारसी नाटक कंपनियों का पीछा छोड़ दिया।

'मतवाला' प्रखर राष्ट्रीय चेतान से मंडित हास्य-व्यंग्य साप्ताहिक था, और पहले अंक के संपादकीय अग्रलेख में ही शिवजी की कलम ने उसकी संपादकीय नीति को भलीभांति परिभाषित कर दिया था - "राष्ट्र, जाति, संप्रदाय, भाषा, धर्म, समाज, शासन-प्रणाली, साहित्य और व्यापार आदि समस्त विषयों का निरीक्षण और संरक्षण ही मेरी योजना का अभिसंधान है। मैं उसे पूरा करने के लिए संकोच, भय, ग्लानि, चिंता और पक्षपात का उसी प्रकार त्याग कर दूँगा जिस प्रकार यहाँ के नेता निजी स्वार्थ का त्याग करते हैं।" उसका यह अडिग संकल्प बराबर बना रहा, और जब तक शिवजी उसके संपादकीय अग्रलेख लिखते रहे उनकी कलम भी कभी लची नहीं। 'मतवाला' की उग्र राष्ट्रीयता की सीधी और शक्तिशाली अभिव्यक्ति शिवजी के संपादकीय अग्रलेखों में होती रही। अंग्रेज सरकार की कुटिल एवं विभाजनवादी नीति पर उनमें करारी चोट की जाती थी। जातीय संगठन की दुर्बलता और राष्ट्रद्रोही संकीर्णता पर 'मतवाला' बराबर नश्तर लगाया करता था। वर्ष 2, अंक 6 के संपादकीय अग्रलेख का शीर्षक था - "गोरों की काली जोंकें" जिसकी ये पंक्तियां उद्धरणीय

हैं - "सभी खद्दर का प्रचार चाहते हैं, देश की भलाई के लिए देशी व्यवसाय की उन्नति चाहते हैं, परन्तु अर्थ-लोलुप विदेशी वस्तु-व्यवसायी 'छांड़ि न सकहिं टेक जो टेकीं'। देश रसातल की राह ले, जाति का सत्यानाश हो जाये, मनुष्यत्व की नानी मर जाये, परंतु ये अभागे देशद्रोही अपने स्वार्थ से तिल-भर भी नहीं डिगेंगे, खुदा जाने विदेशियों से इनका कौन सा गहरा रिश्ता कायम हो गया है।"

"चहिय अमिय जग जुरै न छांछी" शीर्षक अपने अग्रलेख (24.11.23) में शिवजी ने परिवर्त्तनवादी नेताओं के कौंसिल-प्रवेश के उपक्रमों की कठोर निंदा करते हुए लिखा - "भारतवर्ष जैसे देश पर अंग्रेज यदि अन्याय करते हैं तो बुरा नहीं करते। उनका अन्याय करना स्वाभाविक है और उचित भी है। जिस देश की जलवायु में देशद्रोहियों, कायरों, पाखंडियों और खुशामदी नीचों को सांस लेने का अधिकार प्राप्त है, उस देश पर यदि राजा रामचंद्र भी न्याय करें तो बदनामी के सिवा नेकनामी नहीं पा सकते। जिस देश में भाई का गला भाई घोंटता है, जिस देश में अबलाओं पर नाना प्रकार के सामाजिक अत्याचार होते हैं, जिस देश में स्वार्थांधता और धर्मांधता का बोलबाला है, जिसमें शिक्षा द्वारा गुलामी के भाव हृदयंगम किये जाते हैं और जिसमें आत्माभिमान लेशमात्र नहीं रह गया है, उस पर यदि अंग्रेज अन्याय करते हैं तो वे ईश्वर की इच्छा को स्पष्ट चरितार्थ करते हैं। . . .जब तक यह देश जी भर कर सताया न जायगा, जब तक इस पर छूटकर अत्याचार न होगा, जबतक यह घोर दमन-दावानल में दग्ध न होगा, जबतक इसकी लाश को नोंच-नोंचकर कुत्ते न खा जायेंगे, तब तक इसकी सद्‌गति हो ही नहीं सकती, इसका कल्याण हो ही नहीं सकता, इसका उद्धार असंभव है। . . . क्या अंग्रेज ऐसे नासमझ हैं कि समान नागरिकता का अधिकार ऐसे देश को दे डालें जिसके रोम-रोम में महात्मा गाँधी के कैद होने पर चुप्पी साध जाने की निर्लज्जता भरी हुई है। . . . उन्हें क्या पड़ी है जो इतने बड़े-बड़े अधिकारों का दान देकर अपनी दानवीरता को कलंकित करें। हमें अगर ग़रज़ हो तो हम उन्हें लाचार कर दें, अधिकार लेना पसंद हो तो उन्हें बाध्य कर दें, ताकि विवश होकर, निरूपाय होकर, किंकर्तव्यविमूढ़ होकर, वे हमारी आकांक्षाओं की प्रतिष्ठा करें, हमारी मांगों की अवहेलना करने से बाज़ आवें। दांत दिखाने और नाक रगड़ने से कुछ न होगा, दांत खट्टे करने और नाक में दम कर देने से ही मनोरथ सफल होगा।"

इस गद्य पर शिवजी की टकसाली मुहर तो है ही, सामयिक राजनीतिक परिस्थितियों पर ऐसी संवेदनापूर्ण साहित्यिक भाषा में टिप्पणी शिवजी जैसे राष्ट्रनिष्ठ, समर्पित पत्रकार की कलम ही दे सकती थी। 'मतवाला' की पत्रकारिता में साहित्य और राजनीति का अनूठा मेल था। उसके हास्य-व्यंग्य का स्तर साहित्यिक था। राजनीतिक विषयों पर भी जो टिप्पणियाँ होती थीं उनमें साहित्य का रस-रंग भरा

होता था। उसकी दृष्टि व्यापक और उदार थी। वह प्रगतिशील विचारधारा का पक्षधर था। संकीर्ण सांप्रदायिकता एवं सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों का वह कट्टर विरोधी था। शिवजी ने अपने उसी संपादकीय में लिखा है — "मुक्ति बाहरी साधनों से नहीं मिलती, भीतरी साधनों के सदुपयोग से ही मुक्ति मिलती है। अंतरात्मा पापी है तो पत्थर की मूर्त्ति के आगे हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाने से मुक्ति नहीं मिल सकती।"

'मतवाला' के हास्य-व्यंग्य की थोड़ी चर्चा यहां पहले की गई है, और उससे चुनी हुई कुछ ऐसी टिप्पणियां जो शिवजी की लिखी हैं, शिवजी द्वारा अन्य पत्रों के लिए लिखी गई व्यंग्य टिप्पणियों के साथ परिशिष्ट में उद्धृत हैं। 'मतवाला' में कविताओं और समालोचना-लेखन का भार पूरी तरह निराला पर था। 'कसौटी' और "चाबुक" समालोचना के दो स्तंभ थे जिन्हें निरालाजी अलग-अलग छद्म-नामों से लिखते थे। जब तक शिवजी 'मतवाला'-मंडल में रहे "चलती चक्की" की टिप्पणियाँ भी उन्हें ही लिखनी पड़ती थीं। 'मतवाला' का एक स्थायी स्तंभ भी निश्चय ही शिवजी लिखा करते थे — 'सहयोगियों का स्वागत' जो कभी-कभी 'सादर स्वागत' अथवा 'प्राप्ति-स्वीकार' शीर्षक से भी छपता था। इस स्तंभ के लेखक का छद्म-नाम था "बावन तोला पाव रत्ती" अथवा "घी का लड्डू टेढ़ा भला"। इस स्तंभ में समसामयिक प्रकाशित पुस्तकों अथवा पत्र-पत्रिकाओं की परिचयात्मक समीक्षा होती थी। यह एक ऐसा स्तंभ था जो शिवजी द्वारा संपादित अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी स्थायी रहा।

'निराला की साहित्य साधना' (1) में - जो शिवजी की पुण्यस्मृति को ही समर्पित है — डॉ. रामविलास शर्मा ने 'मतवाला'-मंडल के विघटन की परिस्थितियों की चर्चा की है। जिस साहित्यिक सौहार्द के वातावरण में 'मतवाला' का सूत्रपात हुआ था उसमें उसका आर्थिक पक्ष कम-से-कम शिवजी और निरालाजी के लिए बराबर गौण रहा। सेठजी प्रेस, प्रकाशन — जिससे अनेक पुस्तकें भी प्रकाशित होती थीं — और 'मतवाला', तीनों के मालिक थे, पर व्यवस्था और हिसाब-किताब का मुख्य दारोमदार मुंशीजी पर ही बराबर रहा। शिवजी और निरालाजी को सेठजी की ओर से जब जैसी जरूरत होती, एक रकम दे दी जाती थी। कोई तनखाह की बात कभी थी भी नहीं। 'मतवाला' प्रारंभ में आठ पृष्ठों का निकला जिसमें सेठजी की प्रकाशन संस्था सुलभ-ग्रंथ-प्रचारक-मंडल की पुस्तकों के ही विज्ञापन रहते। पर बीसवां अंक पहुँचते-पहुँचते उसकी पृष्ठसंख्या 28 हो गई थी जिसमें 14 पृष्ठ विज्ञापन के हो गये थे। लगभग इसी समय उसकी बिक्री भी दस हजार प्रतियों के आसपास पहुँच चुकी थी। लेखकों को कोई पारिश्रमिक नहीं देना पड़ता था। प्रेस भी अपना था। विज्ञापन-दरों के आधार पर अनुमानतः बिक्री और विज्ञापन से लगभग पाँच-छह हज़ार रुपयों की आमदनी केवल 'मतवाला' से प्रति माह जरूर थी। प्रेस में और भी फुटकर छपाई का काम होता ही था। फिर पुस्तकों की बिक्री की आमदनी भी थी। अगर

केवल पाँच हजार रूपयों की औसत मासिक आमदनी मानी जाये तो भी उन दिनों के लिए यह एक बहुत बड़ी रकम थी। 'मतवाला' में पाँच-छह महीने काम करने के बाद जब शिवजी होली में अपने गाँव जाने लगे तो सेठजी ने मेहनताने के तौर पर उन्हें केवल दो सौ रूपये देने के लिए मुंशीजी को रुक्का लिखा। मुंशीजी ने "मतवाला घाटे में चल रहा है, आजकल हाथ बहुत तंग है, सेठजी इतिहास की किताबों पर इतना रुपया फिजूल खर्च कर देते हैं — आदि बातें शिवपूजन सहाय को समझाईं। उन्होंने मुंशीजी को अपने घर की स्थिति बताई। आख़िर दो सौ रुपये मुंशीजी ने उन्हें दिये।" (नि. सा. सा. 1/90)

शिवजी गाँव से फिर 'मतवाला' में नहीं लौटे, दुलारेलाल भार्गव के यहाँ 'माधुरी' कार्यालय में काम करने लखनऊ चले गये। शिवजी के 'मतवाला' छोड़ने के कुछ ही महीनों बाद निराला भी 'मतवाला' से अलग हो गये। कानपुर से प्रकाशित 'प्रभा' में निराला पर गंभीर आरोप लगाया गया था कि उनकी कई कविताएं सीधे रवींद्रनाथ की कविताओं का अनुवाद थीं। इस विवाद से क्षुब्ध होकर, और इस आक्षेप के बाद 'मतवाला' में अपनी साख घट जाने के कारण, निराला ने मुंशीजी से "चालीस रुपये लिये और गढ़ाकोला के लिए रवाना हो गये" (वहीं, 106)। इसके बाद खंडित 'मतवाला'-मंडल में नया प्रवेश हुआ था उग्र का, और 1925 में जब शिवजी तथा निरालाजी पुनः कलकत्ता आये, तब फिर 'मतवाला' से वह तादात्म्य स्थापित नहीं हो सका, यद्यपि दोनों ही 'मतवाला' को यदा-कदा अपना सहयोग देते रहे।

शिवजी जबतक 'मतवाला' में रहे संपादकीय अग्रलेख, अधिकांश व्यंग्य-टिप्पणियाँ और पुस्तकों की परिचायात्मक समीक्षाएं वही लिखते रहे — और वैसे भी संपादन, प्रूफ-संशोधन आदि का सारा भार उन्हीं पर रहा, पर संपादक के रूप में महादेव प्रसाद सेठ का नाम जाता रहा; लगभग उसी तरह जब वे लखनऊ की 'माधुरी' के संपादकीय विभाग में काम करने गये, तब वहां भी उनकी हैसियत एक संपादकीय सहयोगी की ही रही, संपादक के रूप में नाम दुलारेलाल भार्गव और पं. रूपनारायण पांडेय का ही छपता था! यह सही है कि 'माधुरी' में संशोधन-संपादन चाहे जिस हद तक शिवजी करते रहे हों, पर लेखकीय सहयोग उनका 'पुस्तक-परिचय', "साहित्य सूचना" और "विविध विषय" शीर्षक स्तंभों में ही सीमित रहा। "विविध विषय" में जो साहित्यिक टिप्पणियाँ लिखी जाती थीं उनके नीचे संपादकों में से किसी का नाम नहीं जाता था, परंतु निश्चय ही उनमें से कुछ टिप्पणियाँ शिवजी ने लिखी थीं।

दुलारेलाल 'माधुरी' के साथ-साथ अपने सभी प्रकाशनों में वर्त्तनी की एकरूपता के हित में कुछ खास नियमों का पालन अपने संपादकीय विभाग से कराते थे। वहाँ काम करते हुए शिवजी को भी इन नियमों का ध्यान अपने संपादन-कार्य में रखना

होता था। प्रेमचंद की 'रंगभूमि' की पांडुलिपि का संपादन करने में शिवजी को इन्हीं नियमों का पालन करना था, जिसकी चर्चा उन्होंने प्रेमचंद पर लिखे अपने संस्मरण में की है। ठीक उन्हीं दिनों, अक्तूबर 1924 में, प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी "शतरंज के खिलाड़ी" 'माधुरी' में प्रकाशित हुई थी। डॉ. कमल किशोर गोयनका ने उसपर पाठांतर-शोध की जो पुस्तक ('प्रेमचंद और शतरंज के खिलाड़ी') प्रकाशित की है उसमें कहानी के पाठ-संपादन का जो विवरण उपलब्ध है उसमें एक दृढ़ संभावना बनती है कि उसमें भाषा-संशोधन में सूक्ष्मता और संवेदनशीलता का जो स्तर है वह शिवपूजन सहाय की संपादन-क्षमता की ओर ही इंगित करता है। इस अनुमान का एक कारण तो कहानी के पाठ-संपादन की संवेदनशीलता है, और दूसरा कारण है, ठीक उसी समय शिवजी द्वारा 'रंगभूमि' की पांडुलिपि का सम्यक् संपादन। यदि 'रंगभूमि' के प्रकाशित पाठ के साथ 'शतरंज के खिलाड़ी' के पाठांतर-शोध के निष्कर्षों को मिलाकर देखा जाय तो यह जानना बहुत कठिन नहीं होगा कि दोनों के संपादन में कितना साम्य है। डॉ. गोयनका ने ही लिखा है - " 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी की पांडुलिपि पर संपादक द्वारा किये गये संशोधन-परिवर्द्धन का कोई चिह्न नहीं है। इसका अर्थ है कि संपादक ने मूल पाठ के पृष्ठों पर संशोधन न करके अलग कागज़ पर पाठ को संशोधित-परिवर्द्धित करके लिखा और फिर उसे ही पत्रिका में मुद्रित करने के लिए प्रेस को दे दिया।" ऐसी दशा में यह जानते हुए कि दोनों रचनाएँ बिलकुल एक साथ संपादनाधीन थीं, दोनों में एक का संपादन निश्चित रूप से शिवजी ने किया था, दोनों के अंततः प्रकाशित पाठ उपलब्ध हैं, तथा कहानी की पांडुलिपि पर संशोधन का कोई चिन्ह नहीं होने से यह सर्वथा अनिश्चित है कि संशोधन दुलारेलाल ने स्वयं किया था — सबसे अधिक संभावना इसी बात की है कि 'शतरंज के खिलाड़ी' का पाठ-संशोधन भी शिवजी ने ही किया था।

शिवजी द्वारा संपादित 'द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ' की संशोधित पांडुलिपि काशी के भारत-कला-भवन में सुरक्षित है। शिवजी द्वारा संपादित 'जागरण' के सभी अंकों की संशोधित पांडुलिपियां; प्रेमचंद, निराला, प्रसाद आदि की कई संशोधित पांडुलिपियां तथा अन्य अनेक संशोधित पांडुलिपियां शिवजी के संग्रहालय में सुरक्षित हैं, जिनके आधार पर पाठ-शोध की इस तरह की समस्याओं का समाधान कठिन नहीं। राजेंद्र बाबू की 'आत्मकथा' का पाठ-संशोधन भी कैसा और किस सीमा तक शिवजी ने किया था, यह अब मूल संशोधित पांडुलिपि के नहीं उपलब्ध रहने पर भी भलीभाँति जाना जा सकता है, क्योंकि इसके पहले पांच परिच्छेद शिवजी द्वारा संपादित 'हिमालय' के प्रथम पांच अंकों में लगातार अपने मूल असंपादित रूप में उपलब्ध हैं, तथा अंततः संशोधनोपरांत प्रकाशित पुस्तक का पाठ तो उपलब्ध है ही। 'हिमालय' के प्रथम पाँच अंकों के बाद 'आत्मकथा' की मूल पांडुलिपि राजेंद्र बाबू के निजी सचिव चक्रधर

शरण ने अचानक बिना कोई कारण बताये वापस मंगा ली। एक संभावना यह लगती है कि राजेंद्र बाबू ने असंशोधित रूप में छपने पर आपत्ति की हो। बाद में संशोधन का यह काम शिवजी ने 1946 के उत्तरार्द्ध में संपन्न किया जिसकी विस्तृत चर्चा उनकी डायरियों में है। उसी प्रकार शिवजी द्वारा संपादित 'बिहार की महिलाएं' (राजेंद्र-अभिनंदन-ग्रंथ) की संशोधित पांडुलिपियां भी शिवजी के. संग्रहालय में सुरक्षित हैं, जिनसे संशोधन-संपादन के प्रकार ओर परिमाण को भलीभाँति देखा–परखा जा सकता है।

जनवरी, 1925 में शिवजी फिर कलकत्ता लौट आये। किंतु इस बार उन्होंने अपना डेरा-डंडा अलग रखा। 'मतवाला' से भी सीमित, नपा-तुला संबंध रहा। कुछ अग्रलेख, टिप्पणियाँ 'मतवाला' में जरूर लिखते रहे, पर इस बार संपादन-सहयोग नहीं के बराबर रहा। निराला भी जब कलकत्ता वापस आये, अलग-थलग ही रहे। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है - "सन् '23 से '29 तक 'मतवाला' से निराला और शिवपूजन सहाय का संबंध बार-बार टूटा और जुड़ा। इसका मूल कारण महादेव प्रसाद सेठ की व्यापारी वृत्ति थी। इस व्यापार में नवजादिक लाल श्रीवास्तव भी शामिल थे; इसलिए 'मतवाला' से निराला-शिवपूजन-संबंधों की अस्थिरता के लिए अंशतः वह भी जिम्मेदार थे। वफादार मुनीम की तरह वह मालिक का सारा काम ईमानदारी से करने में आसामियों को कसते थे। शिवपूजन सहाय जब सन् '24 में कलकत्ते से चले तो महादेवप्रसाद सेठ के अलावा उन्होंने मुंशी नवजादिक लाल की शिकायत भी की थी।" (नि. सा. सा. 1/585)

इस बार कलकत्ते में रहते हुए शिवजी ने 'मौजी', 'गोलमाल' और 'उपन्यास तरंग' जैसे अल्पजीवी पत्रों का संपादन किया। 'मौजी' और 'गोलमाल' के अंक तो उपलब्ध नहीं हैं, पर 'उपन्यास तरंग' में ज्यादातर अनूदित उपन्यासिकाएं प्रकाशित होती थीं। इसके उपलब्ध अंकों में सामान्य पाठकीय मनोरंजन की सामग्री के साथ-साथ "सहयोगियों का सादर स्वागत" नामक स्थायी साहित्यिक महत्व का स्तंभ भी था। इसके प्रकाशक और मुद्रक थे किशोरीलाल केडिया, जिनके वणिक प्रेस में यह छपता था। इसका पहला अंक सितंबर, 1925 में निकला था और इसके संपादक के रूप में शिवजी ने साथ रमेशचंद्र त्रिपाठी का नाम छपता था। इसी वर्ष शिवजी ने 'समन्वय' के संपादन विभाग में भी काम किया था, पर उस पर भी बराबर स्वामी माधवानंद का ही नाम संपादक के रूप में जाता था। इन्हीं दिनों पुस्तक-भंडार, (लहेरियासराय) के बालापयोगी मासिक 'बालक' के प्रवेशांक को वणिक प्रेस में मुद्रित कराने बेनीपुरी कलकत्ता आये थे, और 'बालक' के प्रारंभिक दो-तीन अंक शिवजी द्वारा ही संपादित होकर उनकी देखरेख में वणिक प्रेस में छपे थे। पर 'बालक' के संपादक रामवृक्ष बेनीपुरी ही थे। उन्हीं के दबाव पर शिवजी अंततः कलकत्ता छोड़कर काशी गये

जहाँ से 'बालक' के अगले अंक मुद्रित होने वाले थे। पुस्तक-भंडार पुस्तकों का बड़ा प्रकाशक था और उसकी सभी पुस्तकें काशी में ही ज्ञानमंडल प्रेस में छपती थीं।

'बालक' एक श्रेष्ठ बालोपयोगी मासिक पत्र था जिसकी मूल कल्पना रामवृक्ष बेनीपुरी और पुस्तक भंडार के अधिष्ठाता रामलोचन शरण की थी। 'बालक' का पहला अंक कलकत्ते के वणिक प्रेस में मुद्रित हुआ था। तीसरे अंक से यह बनारस के ज्ञानमंडल प्रेस में छपने लगा। शिवजी को लिखे बेनीपुरी के पत्रों से ज्ञात होता है कि संपादन का सारा भार बेनीपुरी ने शिवजी पर छोड़ दिया था, यद्यपि पहले ढाई साल तक संपादक के रूप में बेनीपुरी का नाम ही छपता रहा। उसके बाद रामलोचन शरण का नाम संपादक के रूप में छपने लगा। शिवजी का नाम संपादक के रूप में केवल जनवरी, 1930 से जुलाई-अगस्त, 1930 तक छपा। मई, 1930 से बालक का मुद्रण पुस्तक-भंडार के अपने विद्यापति प्रेस में लहेरियासराय में ही होने लगा। यों वास्तविकता यही है कि पहले अंक से जबतक शिवजी पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय में रहे तब तक बालक के संपादन का मुख्य भार शिवजी पर ही रहा।

एक आदर्श बालोपयोगी पत्र होते हुए भी 'बालक' का मूल कलेवर एक साहित्यिक पत्र का था। "भारतेंदु अंक", "द्विवेदी-स्मृति-अंक", "साहित्यांक" जैसे विशेषांक इसके प्रमाण हैं। सामान्य अंकों में भी सामयिक साहित्यिक गतिविधियों एवं पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं संबंधी सूचनाएं छपा करती थीं। हिन्दी का कोई भी छोटा-बड़ा लेखक ऐसा नहीं था जिसकी रचनाएं 'बालक' में नहीं छपती थीं। राष्ट्रीय स्तर की सभी प्रमुख हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में 'बालक' की हिंदी सेवा की भूरि-भूरि प्रशंसा छपा करती थी। बिहार प्रांत के परवर्त्ती सभी लेखकों की प्रारंभिक रचनाएं 'बालक' में प्रकाशित दष्टिगोचर होती है। दिनकर, प्रभात, आरसी, नेपाली, हंसकुमार तिवारी जैसी काव्य-प्रतिभाएं 'बालक' के पृष्ठों में ही पल्लवित हुई। 'बालक' को एक आदर्श बालोपयोगी पत्र बनाने का श्रेय मुख्यतः उसके संस्थापक-संपादक एवं प्रकाशक रामलोचन शरण को जाता है। उसके प्रकाशन की मूल प्रेरणा रामवृक्ष बेनीपुरी की ही थी। किंतु उसको एक साहित्यिक स्वरूप और स्तर प्रदान करने का कार्य शिवजी ने किया था, क्योंकि एक श्रेष्ठ संपादक एवं भाषा के आचार्य के रूप में वे संपूर्ण हिन्दी जगत में विख्यात हो चुके थे। यद्यपि स्वतंत्रता से पूर्व 'बालक' के प्रकाशक अंग्रेज सरकार के हिमायती बने रहे—इसका प्रमाण है 'बालक' का मई, 1935 का 'रजत जयंती अंक', जो सम्राट पंचम जार्ज के शासन की रजत जयंती के उपलक्ष्य में निकाला गया था, और जिसकी साज-सज्जा उससे कुछ ही महीने पूर्व जनवरी, 1935 में प्रकाशित "भारतेंदु अंक" से भी बहुत बढ़-चढ़कर थी। किन्तु सामान्यतः 'बालक' में सौम्य राष्ट्रीयतावादी, चरित्र-निर्माणमूलक सामग्री छपती थी। जिन सात-आठ अंकों पर शिवजी का नाम संपादक के रूप में छपा था उनमें "हिन्दी

के समाचार पत्र'' शीर्षक स्तंभ में समसामयिक हिन्दी दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रों का परिचय छपता था, प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन का परिचय छपा था, और गोरखपुर में हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उन्नीसवें अधिवेशन के सभापति गणेशशंकर विद्यार्थी के भाषण का वह अंश प्रकाशित हुआ था जिसकी ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं — "आयरलैंड के प्रसिद्ध नेता डी-वेलरा का स्पष्ट मत था कि यदि मेरे सामने एक ओर देश की स्वाधीनता रखी जाय और दूसरी ओर मातृभाषा, तो मैं मातृभाषा को लूंगा क्योंकि इसके बल से मैं देश की स्वाधीनता भी प्राप्त कर लूँगा।" ('बालक, मार्च, 1930)

'बालक' के संपादन के सिलसिले में शिवजी कुछ ही महीने लहेरियासराय में रहकर काशी वापस आ गये थे। इस बार भी वे संपादकीय नीतियों में मतभेद और अप्रिय व्यवहार से ही क्षुब्ध होकर लौटे थे। बेनीपुरी तो पहले ही भंडार से अलग हो चुके थे, कुछ ऐसे ही कारणों को लेकर, और पटने से उग्र राष्ट्रीयतावादी मासिक 'युवक' का संपादन करने लगे थे। आजीविका की कठिन समस्या के कारण शिवजी अनिच्छापूर्वक पं. रामगोविंद त्रिवेदी के बार-बार आग्रह पर बनैली-नरेश कृष्णानंद सिंह की पत्रिका, सुलतानगंज (भागलपुर) से नव-प्रकाशित साहित्यिक मासिक 'गंगा' के संपादक मंडल के सदस्य होकर वहाँ चले गये! 'गंगा' के प्रधान संपादक थे पं. रामगोविंद त्रिवेदी और संपादक-द्वय के रूप में नाम छपता था शिवजी और गौरीनाथ झा का। शिवजी को 'गंगा' में लाने का स्पष्ट कारण एक बार फिर यही था कि "विशुद्ध ऑर्डर-प्रूफ देखने और लेखों का सुचारु संपादन करने में शिवजी को अद्भुत क्षमता प्राप्त थी"। अपने संस्मरण ('साहित्य', "शिवपूजन-स्मृति-अंक") में त्रिवेदीजी ने शिवजी की संपादन-कला पर विस्तार से प्रकाश डाला है :

'शिवजी लेखों का संपादन बड़ी सतर्कता से करते थे। किसी लेख के खटकनेवाले शब्दों और वाक्यांशों अथवा वाक्यों को हटाकर नये अनूठे और प्रभावशाली शब्दों, वाक्यांशों अथवा वाक्यों को रखकर लेख में नगीना जड़ देते थे। किसी लेख के अनगढ़ और लँगड़े पैराग्राफ को काटकर और उस स्थान पर चमत्कारपूर्ण पैरा जोड़कर लेख को मणि-माणिक-समन्वित कर देते थे। किसी-किसी लेख का तो कलेवर तक बदलकर उसे ऐसी जानदार और शानदार भाषा में लिख डालते थे कि तबीयत फड़क उठती थी। किसी-किसी लेख का पुनर्लेखन करके उसे अपनी सिद्धहस्त लेखनी और टकसाली भाषा की अभिरामता और रमणीयता से समलंकृत कर देते थे। वस्तुतः शिवजी को संपादन-कला पर कमाल हासिल था। आचार्य पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी के बाद शिवजी के समान सजग, सतत सावधान, निरंतर सतर्क और प्रतिभाशाली मासिक पत्रिका-संपादक मैंने तो कम देखे।"

'गंगा' एक शुद्ध साहित्यिक एवं स्तरीय मासिक पत्रिका थी जिसमें साहित्य, धर्म और संस्कृति विषयक लेख छपते थे। शिवजी 'गंगा' में भी कल्पित नामों से व्यंग्य-टिप्पणियाँ एवं अन्य स्तंभ-सामग्री लिखा करते थे। 'गंगा' के उनके संपादकीय अग्रलेख 'शिवपूजन रचनावली' (4) में संकलित हैं। 'सामयिक साहित्य' नामक स्तंभ में 'भट्टनायक' नाम से उन्होंने बाबू श्यामसुंदर दास की 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा पं. रामचंद्र शुक्ल की 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तकों की लंबी समीक्षाएं लिखी थीं जिनका आज भी महत्व है। त्रिवेदीजी ने अपने संस्मरण में लिखा है : "गंगा में जो व्यंग्यात्मक चित्र छपते थे, उनके लिए व्यंग्य-पद्य सदा शिवजी ही लिखा करते थे। बिहार के प्रत्येक जिले का इतिवृत्त भी वे ही लिखते-लिखाते थे! 'चारु चयन' भी बड़ी लगन से करते थे। 'चारु-चयन', 'सामयिक साहित्य', 'व्यंग्य-विनोद' आदि कुछ ऐसे स्थायी स्तंभ थे जो शिवजी द्वारा संपादित प्रायः सभी पत्रिकाओं में मिलते हैं। 'गंगा' के कई विशेषांक - "गंगांक" "वेदांक", "पुरातत्वांक" आदि ऐतिहासिक महत्व के विशेषांक माने गये हैं। "पुरातत्वांक" का संपादन पं. राहुल सांकृत्यायन ने किया था। लेकिन शिवजी उससे बहुत पहले (जनवरी-फरवरी, 1932) 'गंगा' छोड़कर काशी वापस लौट चुके थे, और इस बार भी वे असंतुष्ट और क्षुब्ध ही लौटे थे।

'संपादक के अधिकार' शीर्षक अपने लेख में, जो 'रचनावली' (3) में संकलित है, शिवजी ने वेतनभोगी संपादकों की अधिकार-सीमा का प्रश्न उठाया है। सामान्यतः पत्रों के संचालक उनके संपादकों पर अनुचित दबाव बनाये रखते हैं जिस कारण संपादकीय स्वायत्तता का हनन होता है। अपवाद-स्वरूप केवल तीन पत्र संचालकों के नाम लिये गये हैं — बाबू चिंतामणि घोष ('सरस्वती'), रामानंद चटर्जी ('विशाल भारत') और शिवप्रसाद गुप्त ('आज')। संपादकीय नीतियों में अनुचित संचालकीय हस्तक्षेप से पत्र की गरिमा तो धूमिल होती ही है, बहुधा संपादक का स्वाभिमान भी आहत होता है, और कभी तो पत्र ही बंद हो जाता है। संपादक के रूप में शिवजी के अनुभव भी कटुतर रहे : 'मैं पिछले तीस वर्षों से देखता रहा हूँ कि हिन्दी के पत्र-संचालक जिनमें अधिकतर पूंजीपति हैं, और जो पूंजीपति नहीं हैं, वे भी पूंजीपति की मनोवृत्ति एवं प्रवृत्ति के शिकार हो ही जाते हैं, संपादकों का वास्तविक महत्व नहीं समझते, उनका यथोचित सम्मान नहीं करते, उनके अधिकारों की रक्षा पर ध्यान नहीं देते, उनकी कठिनाइयों को दूर करने का सपना भी नहीं देखते"। (रच. 3/262)

'गंगा' से त्यागपत्र देकर काशी लौटने के बाद शिवजी के सामने फिर एक बार आजीविका का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। प्रसादजी और पं. विनोदशंकर व्यास की योजना थी कि शिवजी के संपादन में एक साहित्यिक पत्र काशी से प्रकाशित हो।

व्यासजी ने एकबार अस्तंगत 'मतवाला' को महादेव प्रसाद सेठ से लेकर शिवजी के संपादन में काशी से पुनः प्रकाशित करने के विचार से सेठजी से बात चलाई थी, पर उन्होंने 'मतवाला' के गुडविल के ही पाँच हज़ार माँगे जिससे बात नहीं बन सकी। अंततः व्यासजी ने अपनी प्रकाशन-संस्था 'पुस्तक मंदिर' से ही एक साहित्यिक पाक्षिक निकालने का निश्चय किया और वहाँ से शिवजी के संपादन में 'जागरण' का प्रथमांक प्रकाशित हुआ। संपादकीय में शिवजी ने लिखा - "जागरण को शुद्ध साहित्यिक पत्र बनाने की इच्छा है। ईश्वर से प्रार्थना है कि यह साहित्य-संसार में पारस्परिक बंधुत्व और सौहार्द फैलाने में समर्थ हो।" 'जागरण' में छायावादी कवियों एवं लेखकों की रचनाएं प्रमुख रूप से छपती रहीं। निराला, पंत, महादेवी और प्रसाद की रचनाएं 'जागरण' में नियमित छपा करती थीं। प्रथमांक में प्रसादजी की 'जागरण' शीर्षक कविता इसके आमुख के रूप में छपी थी। उसी अंक में प्रसादजी की तीन और रचनाएं थीं — गद्यकाव्य 'प्रबोधिनी', एक और कविता 'वरुणा की शांत कछार', और उनके 'तितली' उपन्यास का प्रथमांश। शिवजी की ऑस्कर वाइल्ड की अनूदित कहानी 'बुलबुल और गुलाब' भी इसी अंक में छपी थी। 'साहित्य-संसार', 'साहित्य-समीक्षा', 'मधु-संचय', 'स्वाध्याय-सामग्री', 'रंगमंच' आदि स्थायी स्तंभों में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत होती थी। व्यंग्य-विनोद का स्तंभ 'क्षण भर' शिवजी के संपादन के अनिवार्य स्तंभ के रूप में यहाँ भी उपलब्ध था। 'समाचार संकलन' नामक स्तंभ में साहित्य क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण समाचारों का सार प्रकाशित होता था। कुल मिलाकर 'जागरण' एक आदर्श साहित्यिक पत्र था जिसमें छायावाद युग की साहित्यिक चेतना का सुंदर प्रतिबिंबन दिखाई पड़ता है। 'जागरण' के कुल बारह ही अंक पाक्षिक रूप में निकले, और सौभाग्य से उन सभी अंकों में प्रकाशित सामग्री की शिवजी द्वारा संपादित पांडुलिपियाँ उनके संग्रहालय में उपलब्ध हैं, जिन्हें देखकर शिवजी की संपादन-कला के प्रत्यक्ष दर्शन संभव हैं।

'जागरण' की कहानी विनोदशंकर व्यास ने अपनी संस्मरण-पुस्तक 'प्रसाद और उनके समकालीन' में लिखी है। बारहवें अंक के बाद 'जागरण' प्रेमचंद के संपादन में एक साप्ताहिक के रूप में निकला। उसका स्वरूप अब एक राजनीतिक-सह-साहित्यिक साप्ताहिक का था। उसके प्रकाशन आदि के हस्तांतरण को लेकर व्यासजी और प्रेमचंद के बीच कुछ विवाद हुआ था जिसकी विस्तार से चर्चा व्यासजी के संस्मरण में है। व्यासजी प्रसादजी के सखा और प्रशंसक थे। शिवजी भी उसी टोली के प्राणी थे। प्रेमचंद का प्रसादजी से बराबर कुछ-न-कुछ मतभेद रहता था, और साहित्य-जगत में लोग इससे परिचित थे। 'जागरण' के प्रथमांक में प्रेमचंदजी ने 'जागरण का नया रूप' शीर्षक जो संपादकीय टिप्पणी लिखी उसे व्यासजी के संस्मरण में चर्चित विवाद के आलोक में पढ़ने पर ऐसा लगता है कि 'जागरण' के मूल पाक्षिक रूप पर, और

उसी की ओट में प्रसाद और उनके मित्र-मंडल पर, प्रेमचंद ने हल्के-हल्के छींटाकशी की है, यद्यपि शिवजी से उनका सौहार्द रत्ती-भर भी कम नहीं हुआ। 'जागरण' के "क्षण भर" स्तंभ के लिए शिवजी बाद में भी व्यंग्य-टिप्पणियाँ लिखते रहे। प्रसादजी की रचनाएँ भी उसमें बराबर छपती रहीं। पर भाषा-संशोधन के मामले में नया 'जागरण' त्रुटिहीन नहीं रह सका। 'जागरण' को साहित्य के परिमित क्षेत्र से निकालकर प्रेमचंद राजनीति के विस्तृत क्षेत्र में तो ले आये, पर वहां भी वह अधिक फल-फूल नहीं सका। जब शिवजी इसके संपादक थे, ग्राहक-संख्या दो-ढाई सौ थी, पर साप्ताहिक होने पर भी उसकी अधिक-से-अधिक एक हजार प्रतियां छपती थीं। अंततः अक्तूबर, 1934 में प्रेमचंद को भी इसे बंद करना पड़ा।

'जागरण' के बाद संपादकीय पत्रकारिता से तो शिवजी का संबंध अगले बारह-चौदह साल तक छिन्न रहा—यद्यपि दुबारा वे लहेरियासराय जाकर 'बालक' के संपादन में अनाम सहयोग करते रहे, और अंततः वहाँ से कॉलेज प्राध्यापक होकर छपरा चले गये - पर ग्रंथ-संपादन एवं पत्रकारिता-लेखन का उनका क्रम अबाध चलता रहा। काशी से लहेरियासराय वे सपरिवार 1935 में चले गये थे, और वहाँ से नवंबर, 1939 में छपरा गये थे। 'जागरण' से मुक्त होने के बाद 1932-33 के बीच कुछ महीने प्रयाग में रहकर शिवजी ने 'द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ' का संपादन किया था, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। छपरा में रहते हुए ही शिवजी ने पुस्तक-भंडार की रजत जयंती के अवसर पर प्रकाशित 'जयंती-स्मारक-ग्रंथ' का संपादन किया था, जो जून, 1942 में प्रकाशित हुआ था। नयनाभिराम मुद्रण और कलात्मक साज-सज्जा से भूषित यह हजार पृष्ठों का ग्रंथ सुरुचिपूर्ण मुद्रण और श्रेष्ठ संपादन का उत्कृष्ट नमूना है। बिहार के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक वैभव का यह एक मूल्यवान विश्वकोष ही है। इसके संपादन में शिवजी को कितना परिश्रम करना पड़ा था, यह उनकी डायरी के पृष्ठों में अंकित है। छपरा में बीते दशक में शिवजी ने पुस्तक-भंडार से प्रकाशित अनेक पुस्तकों का संपादन किया जिनमें राजा राधिकारमण का उपन्यास 'राम-रहीम' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस उपन्यास की संपादन-कथा राजा राधिकारमण के शिवजी को लिखे उन पत्रों में दर्ज है जो शिवजी के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। डायरियों और पत्रों के प्रकाशन के बाद ही किसी हद तक जाना जा सकेगा कि शिवजी ने कितनी पुस्तकों और रचनाओं का संपादन किया था।

अगस्त, 1945 में शिवजी ने कॉलेज से एक साल की छुट्टी ली थी। उसी अवधि में पुस्तक-भंडार पटना से 'हिमालय' के प्रकाशन की योजना बनी। साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'हिमालय' का प्रकाशन एक युगांतरकारी प्रयास था। प्रारंभ में 'हिमालय' की प्रस्तावित संपादक-त्रयी में दिनकर का भी नाम था, पर कुछ ऐसे कारण थे कि उनका नाम संपादक के रूप में छपा नहीं। प्रथमांक में शिवजी के

साथ बेनीपुरी का नाम छपा। हिमालय' का पहला अंक "मासिक साहित्य" उपशीर्षक से प्रस्तुत हुआ जो फिर दूसरे अंक में "साहित्यिक मासिक पुस्तक" और तीसरे अंक से "साहित्यिक पुस्तक-माला" के रूप में प्रकाशित होता रहा। 'हिमालय' के स्वरूप की मूल कल्पना बेनीपुरी की थी। डिमाई आकार में प्रकाशित यह संभवतः हिन्दी का पहला साहित्यिक मासिक था, यद्यपि इसके सात-आठ अंकों के प्रकाशित होते-होते प्रयाग से अज्ञेय, नगेंद्र, सियाराम शरण गुप्त और श्रीपत राय के संपादन में 'प्रतीक' लगभग इसी आकार-प्रकार में निकलने लगा। 'हिमालय' का पहला अंक फरवरी, 1946 में प्रकाशित हुआ, और 'प्रतीक' का प्रथमांक ग्रीष्म, 1947 में निकला। 'हिमालय' प्रथमांक की संपादकीय टिप्पणी में बेनीपुरी ने लिखा — "सारी पुरानी धारणाएं और परंपराएँ नष्ट-भ्रष्ट हो रही हैं; उनके भग्नावशेष से एक नई संस्कृति आज धरातल पर सिर उठाकर झाँक रही है। 'हिमालय' का प्रकाशन उसी नवजात संस्कृति-शिशु के आगमन का सूचक है। 'हिमालय' हिन्दी-साहित्य में स्थायीत्व और उच्चता, जीवन और यौवन, प्रवाह और प्रगति का प्रतिनिधित्व करे, यही हमारी आकांक्षा है। प्रचलित राजनीति की धूलि-धूसरित दुनिया से बहुत ऊपर, विचारों और भावनाओं के विशुद्ध वायुमंडल में ले जाकर पाठकों के मन-प्राण को आप्यायित करना ही हमारा प्रमुख उद्देश्य है। हम 'हिमालय' को मुख्यतः कलात्मक कृतियों और आलोचनाओं का मुखपत्र बनाना चाहते हैं।" हिमालय किसी वाद के विवाद में मुक्त रहने को कृतसंकल्प था। साहित्य के शाश्वत मूल्यों को प्रतिष्ठापित करना ही 'हिमालय' का मूल उद्देश्य था। यहाँ तक कि राजनीति के क्षेत्र के महारथियों--डॉ. राजेंद्र प्रसाद, आचार्य नरेंद्र देव और जयप्रकाश नारायण—ने भी 'हिमालय' में अपनी साहित्यिक कृतियाँ ही प्रकाशित की थीं। पहले पाँच अंकों में राजेंद्र बाबू की 'आत्मकथा' के प्रारंभिक अंक मूल रूप से छपे थे। छठे अंक में जयप्रकाशजी का कारावास (लाहौर किला) में लिखा लेख 'हमारा प्राचीन वाङ्मय' छपा था और दसवें और ग्यारहवें अंकों में उनकी दो कहानियाँ 'दूज का चाँद' और 'टामी पीर'। सातवें अंक में विश्वेश्वरप्रसाद कोइराला की कहानी 'होड़' भी प्रकाशित हुई थी। समाजवादी गिरोह के बेनीपुरी का संपादक-मंडल में होना इसका प्रमुख कारण था। स्वयं बेनीपुरी हाल ही में तीन साल की नज़रबंदी के बाद हज़ारीबाग़ जेल से छूटे थे जहाँ से जयप्रकाश के जेल-पलायन में वे भी एक सहयोगी रहे थे। तीन साल की यह नज़रबंदी बेनीपुरी के लिए सृजनशीलता की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुई क्योंकि उनकी सभी श्रेष्ठ कृतियां इन्हीं दिनों लिखी गईं। 'माटी की मूरतें' के कुछ शब्द-चित्र और 'अंबपाली' नाटक पहली बार 'हिमालय' में ही छपे। साथ ही बेनीपुरी की और कई अनूदित रचनाएँ भी 'हिमालय' के इन्हीं अंकों में छपीं, जिनमें कीट्स की कविताओं के सुंदर अनुवाद भी थे। बिहार के सभी प्रमुख लेखकों-कवियों के अलावा 'हिमालय' में रायकृष्ण दास से लेकर प्रभाकर माचवे तक की रचनाएँ छपती थीं। निस्संदेह 'हिमालय' अपने समय का सर्वोत्कृष्ट

साहित्यिक मासिक था। लेकिन उसके प्रकाशक की अभिरुचि उसके व्यावसायिक पक्ष में थी, उसके साहित्यिक वैभव में नहीं। घाटे के कारण 'हिमालय' का प्रकाशन पिछड़ने लगा। अगस्त, 1946 में शिवजी कॉलेज की छुट्टी समाप्त होने पर छपरा वापस चले आये थे। परिणामस्वरूप अगस्त, '46 का अंक जनवरी, '47 में और जनवरी, '47 का अंक दस महीने पिछड़कर अक्तूबर, '47 में निकल सका। 'हिमालय' के बंद होने के आसार मई-जून से ही दिखाई देने लगे थे। बेनीपुरी अपनी राजनीतिक व्यस्तताओं के कारण 'हिमालय' से किनाराकशी करने लगे थे। शिवजी ने अपनी डायरी में लिखा — "बेनीपुरीजी आये। उन्होंने कुछ भी लिखकर नहीं दिया। संपादकीय टिप्पणी के लिए प्रेस तकाजा कर रहा है। स्वयं ही सब लिखकर दिया। अकेला ही सर्वत्र खटता हूँ। 'मतवाला' के संपादन में भी अकेला ही खटता रहा" (29.6.47)। बेनीपुरी 'हिमालय' की व्यवस्था से असंतुष्ट थे और व्यवस्था उनसे। प्रकाशक रामलोचन शरण ने शिवजी के कड़े विरोध के बावजूद बेनीपुरी का नाम 'हिमालय' के ग्यारहवें अंक से हटा दिया। शिवजी ने स्वयं ऐसी स्थिति में 'हिमालय' छोड़ने का निश्चय कर लिया था। इसी समय हिमालय प्रेस में हड़ताल हो गई, जिसके बाद 'हिमालय' के प्रकाशन का ठीका परमेश्वर प्रसाद सिंह को दिया गया जिन्होंने राजेंद्र बाबू की 'आत्मकथा' अपनी प्रकाशन-संस्था साहित्य-संसार, पटना से छापी थी। शिवजी को 'हिमालय' के लिए सात्विक मोह था। उन्होंने दिनकर और बेनीपुरी को 'हिमालय' को उबारने में सहयोग देने के लिए पत्र लिखा। उन्होंने परमेश्वर प्रसाद और रामलोचन शरण - दोनों को भी पत्र लिखा। यह सारा पत्राचार शिवजी के संग्रहालय में सुरक्षित है। इन पत्रों और शिवजी की इन दिनों की डायरी में वह करुण-कथा दर्ज है जिसमें 'हिमालय' के अवसान की चर्चा है।

शिवजी ने बेनीपुरी का नाम हटाने से दग्ध होकर 'भुजभंग' शीर्षक जो टिप्पणी 'हिमालय' के जनवरी, 1948 अंक के लिए छपरा से भेजी उसे रामलोचन शरण ने नहीं छपने दिया। शिवजी ने अपनी डायरी में लिखा — " 'हिमालय' के दूसरे वर्ष के प्रथमांक से मेरी आरंभिक चार टिप्पणियाँ निकाल दी गई हैं। कारण बताया गया है कि वे किसी को भी पसंद नहीं हैं, निरर्थक हैं, हास्यास्पद हैं और प्राणघातक भी तथा व्यावसायिक दृष्टिकोण से अनुचित हैं। अनावश्यक भी कहा गया है और अनधिकार चेष्टा भी। ऐसी कठोर सम्मति कभी संपादक स्वीकृत नहीं कर सकता। अतः त्यागपत्र लिख कर भेज दिया" (21.1.48)। फिर परमेश्वर प्रसाद को उसी दिन पत्र में लिखा — "क्या किसी को पसंद आने के लिए ही मुझे टिप्पणी लिखनी चाहिए? जो आप लोग पसंद करेंगे वही मुझे लिखना पड़ेगा? मैं अपने पाठकों के लिए संपादकीय लिखता हूं, आप लोगों के लिए नहीं। संपादकीय में क्या उचित-अनुचित और आवश्यक-अनावश्यक है, यह विचारना मेरा काम है, आप लोगों का नहीं।

. . . आपकी दृष्टि में जो जंचे और रुचे वही आदरास्पद है, मेरी दृष्टि में जो आवश्यक है वह हास्यास्पद है। मेरा दृष्टिकोण हास्यास्पद और आपका मानास्पद। आप व्यावसायिक दृष्टि से अनुचित समझते हैं, मैं साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा उचित समझता हूँ। आपके और मेरे दृष्टिकोण में महान अंतर है। व्यावसायिक दृष्टिकोण को मैं संपादकीय विषयों में कदापि खपने देना नहीं चाहता। किन्तु आप लोगों का पत्र है चाहे जिस नीति से चलाइए, मेरा उस नीति से कोई संबंध नहीं। मैं अपनी नीति का पक्ष उचित और सत्य मानता हूँ। पत्रकारिता की दृष्टि से मैंने सब कुछ ठीक ही लिखा था। कोई पत्रकार उसे अनुचित नहीं कह सकता।"

'हिमालय' इसके बाद भी बंद तो नहीं हुआ, पर श्रीहीन होकर कुछ ही अंक और चल सका। 'हिमालय' का अनुभव शिवजी के लिए 'मतवाला' के अनुभव से बहुत भिन्न नहीं था - " 'मतवाला' में भी यही हुआ। जान लड़ाकर दिन और रात लगातार घोर परिश्रम किया और अंत में पेट की चोट खाकर हताश होना पड़ा। मगर पैसेवाले की समझ में बात आ गई कि पैसे से प्रतिभा या कोई गुण नहीं ख़रीदा जा सकता। पैसे से आदमी भी नहीं खरीदा जा सकता यदि वह सचमुच आदमी है। आदमीयत की ऊँचाई को पैसा नहीं छू सकता। पैसा अंधा है। ख़ुद तो अंधा है ही, दूसरों को भी अंधा बना देता है।" (डा. 29.1.48)।

'हिमालय' छोड़ने के बाद शिवजी पुस्तक-भंडार से हमेशा के लिए अलग हो गये। 'मतवाला' के अनुभव जैसे भी रहे, सेठजी और मुंशीजी से बाद में भी सौहार्द बना रहा। 'हिमालय' के अनुभव ने मर्मांतक पीड़ा दी थी, और रामलोचन शरण से फिर कोई सौहार्द शेष नहीं रहा। छपरा से शिवजी जब अंततः बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के मंत्री होकर पटना आ गये तब वे बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शोध-प्रधान त्रैमासिक 'साहित्य' का संपादन आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के साथ करने लगे। परिषद का कार्यालय सम्मेलन परिसर में ही स्थित था, जहाँ शिवजी सपरिवार निवास भी करने लगे थे। 'साहित्य' एक प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्था का मुखपत्र था, किसी व्यक्ति-विशेष के अधीन नहीं था। शिवजी के सहयोगी संपादक आचार्य नलिन विलोचन शर्मा थे जिनका संपादकीय सहयोग शिवजी के लिए अत्यंत मूल्यवान था। इन्हीं अनुकूल परिस्थितियों में शिवजी ने पटना में बीते अपने जीवन के अंतिम बारह वर्ष 'साहित्य' के संपादन को अर्पित किये । सम्मेलन के अनुशील विभाग में प्रायः प्रतिदिन संध्या में साहित्यकारों का जमघट होता था — शिवजी, नलिनजी, बेनीपुरी, छविनाथ पांडेय, और अक्सर दिनकर भी, वहाँ साहित्य-चर्चा में उपस्थित होते। परिषद के वार्षिकोत्सवों के विशेष अवसर पर, बच्चनदेवी साहित्य गोष्ठी में, अथवा यों भी पटना से गुज़रते हुए अन्य प्रदेशों के भी साहित्यिक वहाँ की शोभा बढ़ाया करते थे। सम्मेलन के वे सचमुच स्वर्णिम दिन थे। और उस सुवर्ण-संयोग की आभा प्रकीर्ण होती थी हिन्दी

जगत में 'साहित्य' के रूप में। शिवजी और नलिनजी का मणि-कांचन संयोग एक अभूतपूर्व साहित्यिक संयोग था - दोनों ही साहित्य-महारथी सभी अर्थों में एक दूसरे के लिए आदर्श पूरक थे। और दोनों ही महारथियों को श्रीरंजन सूरिदेव जैसा सुयोग्य सहकारी मिला था संपादन-कर्म में सहायक के रूप में। शिवजी की डायरियों में उन दिनों की साहित्यिक गतिविधियों का दैनंदिन विवरण उपलब्ध है जिसमें साहित्येतिहास-लेखन के लिए महत्वपूर्ण सामग्री संचित है।

शिवजी ने निधनोपरांत अनेक पत्र-पत्रिकाओं के श्रद्धांजलि-विशेषांक प्रकाशित हुए थे जिनमें 'साहित्य-संदेश' (आगरा) का विशेषांक भी उल्लेखनीय है। उसमें श्रीरंजन सूरिदेव का लेख " 'साहित्य' और आचार्य शिवजी" छपा था जिससे इस प्रसंग पर पूरा प्रकाश पड़ता है :

" 'साहित्य' पुण्यश्लोक आचार्य शिवजी के समग्र संपादकीय का जाज्वल्यमान प्रतीक है। वह 'साहित्य' उस संपादकाचार्य के श्रम और निष्ठा का मुखर इतिहास है, जिसने संपादन कला का प्रतिमान प्रस्तुत किया — अपने मन, प्राण और अरमान का बलिदान कर। कहना न होगा कि आचार्य शिवजी 'साहित्य' के लिए जिये और 'साहित्य' उनसे संजीवनी पाता रहा। . . . आचार्य शिवजी और आचार्य नलिनजी, इन दोनों पुण्यात्माओं से 'साहित्य' को प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य की विचार-सरणियों का अपूर्व सामंजस्य प्राप्त था। आचार्य शिवजी की अविश्रांत लेखनी लेखकों की रचनाओं के खलिहान को जिस प्रकार निर्भ्रमता और निर्ममता से साफ करती, संपादकीय टिप्पणी भी उसी प्रकार निर्भीकता से उरेहती। 'साहित्य' के बारह वर्षों की आयु तक में लिखी गई उनकी टिप्पणियों में जो विचारधारा प्रवाहित हुई है उसका मांत्रिक महत्व है, अतएव वह माननीय है। उनके संपादकीय हिन्दी के लिए उस स्नेहिल पिता के हृदय की तरह हैं, जो अपनी पुत्री की समुन्नति पर जितना ही प्रसन्न होता है, अवनति पर उतना ही खिन्न और अप्रसन्न।"

श्रीरंजन सूरिदेव को शिवजी के सानिध्य में बारह वर्षों तक उनकी संपादन-कला एवं तत्संबंधी मान्यताओं को निकट और सूक्ष्मता से परखने-सीखने का सुअवसर मिला था। अपने उक्त लेख में उन्होंने 'साहित्य' में शिवजी द्वारा लिखित संपादकीय टिप्पणियों के विषय-वैविध्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। बहुलांशतः ये विषय हिन्दी भाषा और साहित्य के मूलभूत शोध-प्रश्नों से संबद्ध होते थे। साहित्यिकारों के पत्रों, हस्तलिखित पत्र-पत्रिकाओं, साहित्यिक भाषणों, शोध के मूलभूत साधनों, हस्तलिखित ग्रंथों, शोधपयोगी ग्रंथ-भांडारों आदि के अन्वेषण एवं संरक्षण की ओर ध्यानाकर्षण का कार्य जिस आकुलता एवं निरंतरता से शिवजी ने अपनी संपादकीय टिप्पणियों में किया था उसका महत्व भविष्य निर्धारित करेगा। उनकी अनेक टिप्पणियाँ पत्र-पत्रिकाओं में भाषा-प्रयोग की उच्छृंखलता, शिथिल संपादन-वृत्ति, संपाद्य सामग्री

की सदोषता आदि पर भी लिखी गई थीं। राष्ट्रभाषा, हिन्दी-उर्दू और हिन्दुस्तानी जैसे प्रश्नों पर भी वे बड़ी दृढ़ता और निर्भीकता से बराबर लिखते ही रहे। जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने दिवंगत साहित्य-सेवियों पर श्रद्धांजलि-स्वरूप जो टिप्पणियाँ लिखीं, उनके सबसे बड़े प्रशंसक स्वयं आचार्य नलिनजी ही थे। इससे जुड़े उस मार्मिक प्रसंग की चर्चा पहले हो चुकी है जिसमें दोनों सहृदय साहित्यकारों ने विनोद के क्षण में एक दूसरे के निधनोपरांत 'साहित्य' में वैसी ही श्रद्धांजलि-टिप्पणी लिखने की बात कही थी और यह निश्चय ही क्रूरतम विडंबना थी कि शिवजी को ही 'साहित्य' का 'नलिन-स्मृति अंक' संपादित करना पड़ा था। 'नलिन-स्मृति अंक' के बाद शिवजी 'साहित्य' का फिर कोई अंक संपादित नहीं कर सके, क्योंकि इस अंक के अति-विलंब से प्रकाशित होने के बाद दो महीने भी पूरे नहीं हो सके थे जब शिवजी का महाप्रयाण हो गया।

उसी शृंखला में 'साहित्य' का अंतिमांक 'शिवपूजन-स्मृति अंक' के रूप में निकला जिसमें सहकारी श्रीरंजन सूरिदेव ने अथक परिश्रम करके उसे एक आदर्श विशेषांक के रूप में संयोजित-संपादित किया, जो अद्यतन शिवजी पर प्रकाशित सर्वांगपूर्ण एक मूल्यवान ग्रंथ ही है। शिवजी की संपादन-कला पर डॉ. सूरिदेव ने जो पंक्तियाँ लिखी हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं :

"आचार्य शिवजी का संपूर्ण व्यक्तित्व संपादन-कला की साधना का प्रतिरूप था, जिसमें एक साथ ही उनके देवत्व की दीप्ति और सहसा दयनीय विवशता-सी प्रतीत होने वाली उनकी ऋजु-प्राज्ञता का अद्भुत संयोग था। किसी भी पत्र-पत्रिका या ग्रंथ के संपादन के संदर्भ में उन्होंने 'नाम' और 'राशि' को कभी मूल्य नहीं दिया। नाम की जगह वह काम को महत्व देते थे। उन्होंने संपादक के रूप में अपने नाम को कभी औपचारिक नहीं होने दिया, इसलिए कोई भी पत्रिका, जिसके वह संपादक रहे, उनकी छाप से ही अभिज्ञात हुई, भले ही संपादक मंडल में औपचारिकता के लिए अनेक नाम क्यों न हों। उनकी लेखनी से अनाम या सनाम जो भी सृष्टि हुई, उसका अपना शिवत्व बराबर बरकरार रहा। उनकी आदर्श संपादन-प्रक्रिया या सारस्वत साधना की यही विशेषता या मौलिकता थी। . . . हिन्दी-संसार में संपादन, संशोधन, भाषा परिष्करण आदि की दृष्टि से द्विवेदी-युग का नेतृत्व आचार्य शिवजी ही करते थे। सच पूछिए तो, आज का हिन्दी-युग 'शिवपूजन-युग' के नाम से ही अभिधेय है।"

3
चयन

क. कथा-साहित्य

'नमक का बदला'

जेठ का महीना था। भूखे गरीब के पेट की तरह धरती जल रही थी। लू की लपट से ऐसी आँच निकलती थी, मानों नवयुवती विधवा गरम साँस छोड़ रही हो। लम्बी जीभ निकाले कुत्ते हलप-हलपकर हाँफते थे, जैसे जाड़े में कोई दमा का पुराना रोगी।

हम बाबूजी के साथ पालकी पर मूसन तिवारी के एक भतीजे की बारात में जा रहे थे। साथ में एक लदुआ टट्टू पर बाबू रामटहल सिंह के दरबान घूरन सिंह भी थे, उनके पीछे-पीछे खेदू बहँगीदार।

पालकी के कहार 'हूँ: हाँ:' करते अपनी बोली बोलते चले जाते थे। बबूल के काँटे देखने पर कहते थे—रूपहला है! भँटकँटैया और नागफनी देखने पर कहते थे—सुनहला है! कहीं बहुत ऊँच-खाल देखने पर कहते—कमरतोड़ है!

पालकी की पिछली खिड़की से बाबूजी ने कहारों से कहा—रास्ते में जहाँ कहीं प्याऊ मिले; ठहर जाना, मारे प्यास के तालू चटक रहा है।

हाँफते हुए कहार बोले—वह आगे ताड़ के पेड़ोंवाला गाँव दिखाई देता है। बस वहीं हमलोगों को एक-एक लबनी ताड़ी पिलाइए और आप भी दुपहरी गँवाइए। तब देखिए रास्ते का मजा! फिर ऊपरी बेला में ठंढे-ठंढे निकल चलेंगे। साँझ ही से अँजोरिया रात पड़ेगी, लूक की तरह पालकी लेकर उड़ जायँगे। गरमाये कंधे से ही बारात दरवाजे लगाते हुए जनमासे में जाकर ठंडायेंगे।

पालकी के पीछे पीछे टट्टू दुलकाते हुए घूरनसिंह ने कहा—जबतक तुमलोग ताड़ीखाने में जाकर ताड़ी घटोरोगे, तब तक हमलोग घड़ी-भर घाम निवारेंगे। मगर बिना ताड़ी पिये तो तुमलोग मेरे टट्टू को अपने पाँवों नहीं लगने देते, फिर ताड़ी पीने पर तो तुमलोग और आँधी हो जाओगे—दौड़ते-दौड़ते टट्टू की लीद निकल जायगी।

पीछेवाले कहारों ने हाँफ भरी हँसी हँसते हुए कहा—लीद तो बेचारे की यों ही निकल रही है—सखुआ की सिल्ली ऐसी देह लादकर आप उसकी रीढ़ तोड़ रहे हैं! सचमुच हमलोगों के ताड़ी पी लेने पर इस टुटुरूँ-टूँ चाल से आप पिछड़ जाइएगा।

लेकिन एक उपाय है। हमलोग में जो कंध-छूट रहेगा, वह थोड़ी-थोड़ी दूर पर उसके पीछे से सोटा जमाता चलेगा। तब साथ न छूटेगा। इस आगेवाले गाँव में चलकर पहले उसको भर-पेट दाना खिलाइए।

यह सुनकर आगेवाले कहार बोले—वाह भाई वाह! टटुए बेचारे की जान लोगे क्या? ऐसी दवा मत बताओ कि बेचारा इसी गाँव में छेरने लगे और घूरन सिंह को टाँग घिसियाना पड़े। अभी आधा रास्ता बाकी है।

इसपर खेदू ने काँवर का कंधा बदलते हुए कहा—दाना के बिना और खायेगा क्या? सतुआ हमलोग के पेट से बेसी है नहीं—घास-भूसा इस गाँव में मिलने का नहीं—चारों ओर तो उसर रेहचट है।

घूरनसिंह—मैं जानता हूँ, इस गाँव के पूरब एक छोटी-सी नदी है। जब तक कहीं बैठकर हमलोग जुडाएँगे, तब तक छान लगाकर इसको नदी के कछार पर चरने के लिए छोड़ देंगे। वहाँ चरी होगी।

एक कंध-छूट कहार ने दुलककर आगे बढ़ते हुए कहा—मैयाजी, ऐसा काम भी न कीजिएगा। बेचारे की ठठरी तो यों ही डोल रही है। नदी तीर निराले में पाकर कहीं गीध न नोच डालें।

उसकी बात सुनते ही घूरनसिंह चिढ़कर गाली बकने लगे! वह हँसते-हँसते पालकी के आगे-आगे दौड़ने लगा। कहार और बँहगीदार भी हँस पड़े। बाबूजी और हम पालकी में कुछ-कुछ ऊँघ रहे थे, सो इस हँसी के कारण ऊँघाई जाती रही!

इसी तरह के गँवारू विनोद में लहर लेते हुए कहार बस्ती के पास पहुँचे। रास्ते पर ही एक प्याऊ थी। वहीं अपना-अपना सोटा पटक कर कहारों ने पालकी रख दी। पालकी रखते हुए जोर से चिल्लाकर बोले।

जय बजरंग-बली धजाधारी
कसो लँगोट, उठाओ गदा भारी
खबर लो हमारी, सरन तिहारी
लँगोट का पक्का मर्द औ सत की पक्की नारी
बात का कच्चा भड़ुआ नेद की कच्ची छिनारी

पालकी रखते ही हमलोग बाहर निकले। देखा, हरसंकरी का बड़ा ही छतनार पेड़ था। घनी पाकड़ के साथ गलबहियाँ डालकर मानों बर और पीपर सुख-छहियाँ लूट रहे हों! मालूम होता था, चारों ओर धू-धू करती हुई लू के डर से भागकर दसो दिसा की छाया यहीं आ सिमटी है।

खेदू ने एक कम्बल बिछा दिया। हम और बाबूजी उसी पर बैठ गये।

['देहाती दुनिया' उपन्यास से]

'मुंडमाल'

चूड़ावतजी घोड़े पर सवार हो रहे हैं। डंके की आवाज घनी होती जा रही है। घोड़े फड़क-फड़ककर अड़ रहे हैं। चूड़ावतजी का प्रशस्त ललाट अभी तक चिन्ता की रेखाओं से कुंचित है। रतनारे लोचन-ललाम रण-रस में पगे हुए हैं।

उधर रानी विचार कर रही है—"मेरे प्राणेश्वर का मन मुझमें ही यदि लगा रहेगा, तो विजय-लक्ष्मी किसी प्रकार उनके गले में जयमाल नहीं डालेगी। उन्हें मेरे सतीत्व पर संकट आने का भय है। कुछ अंशों में यह स्वाभाविक भी है।"

इसी विचार-तरंग में रानी डूबती-उतराती हैं। तबतक चूड़ावतजी का अन्तिम संवाद लेकर आया हुआ एक प्रिय सेवक विनम्र भाव से कह उठता है—"चूड़ावतजी चिह्न चाहते हैं—दृढ़ आशा और अटल विश्वास का। सन्तोष होने योग्य कोई अपनी प्यारी वस्तु दीजिए। उन्होंने कहा है— 'तुम्हारी ही आत्मा हमारे शरीर में बैठकर इसे रणभूमि की ओर लिए जा रही है; हम अपनी आत्मा तुम्हारे शरीर में छोड़कर जा रहे हैं।

स्नेह-सूचक संवाद सुनकर रानी अपने मन में विचार रही हैं—"प्राणेश्वर का ध्यान जबतक इस तुच्छ शरीर की ओर लगा रहेगा, तबतक निश्चय ही वे कृतकार्य नहीं होंगे।" इतना सोचकर बोली—"अच्छा, खड़ा रह, मेरा सिर लिये जा।"

जबतक सेवक 'हाँ! हाँ!' कहकर चिल्ला उठता है, तबतक दाहिने हाथ में नंगी तलवार और बाये हाथ में लच्छेदार केशोंवाला मुंड लिए हुए रानी का धड़, विलासमन्दिर के संगमर्मरी फर्श को सती-रक्त से सींचकर पवित्र करता हुआ, धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा।

बेचारे भय-चकित सेवक ने यह 'दृढ़ आशा और अटल विश्वास का चिह्न' काँपते हुए हाथों से ले जाकर चूड़ावतजी को दे दिया। चूड़ावतजी प्रेम से पागल हो उठे। वे अपूर्व आनन्द में मस्त होकर ऐसे फूल गये कि कवच की कड़ियाँ धड़ाधड़ कड़क उठीं।

सुगन्धों से सींचे हुए मुलायम बालों के गुच्छों को दो हिस्से में चीरकर चूड़ावतजी ने, उस सौभाग्य-सिन्दूर से भरे हुए सुन्दर शीश को, गले में लटका लिया। मालूम हुआ, मानों स्वयं भगवान् रुद्रदेव भीषण भेष धारण कर शत्रु का नाश करने जा रहे हैं। सबको भ्रम हो उठा कि गले में काले नाग लिपट रहे हैं या लम्बी-लम्बी सटकार लटे हैं। अटारियों पर से सुन्दरियों ने भर-भर अंजली फूलों की वर्षा की। मानों स्वर्ग की मानिनी अप्सराओं ने पुष्पवृष्टि की। बाजे-गाजे के शब्दों के साथ घहराता हुआ, आकाश फाड़नेवाला, एक गंभीर स्वर चारों ओर से गूँज उठा—'धन्य मुण्डमाल!'

[कहानी का अंतिम अंश]

ख. निबंध-साहित्य

भाषा में क्रियाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत, अँग्रेजी आदि सुसम्पन्न एवं समर्थ भाषाओं में क्रियाओं के प्रयोग का सौष्ठव दर्शनीय है। हिन्दी में अधिकतर संयुक्त क्रियाएँ लिखी जाती हैं। पर, अब अहिन्दीभाषी क्षेत्र के संस्कृतज्ञ विद्वान् एकाकी क्रियाओं का भी व्यवहार करने लगे है। 'मानस' में तथा अन्यान्य तुलसी-कृत ग्रन्थों में संज्ञा और विशेषण को भी क्रियात्मक रूप देने का प्रयास किया गया है। हिन्दी में अभी तक ऐसा कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है।

लोकभाषाओं की क्रिया-शक्ति भी हिन्दी से बढ़ी-चढ़ी दीख पड़ती है। संस्कृत और अँग्रेजी की तरह उनमें भी संज्ञा एवं विशेषण के शब्दों से क्रिया बना ली जाती है। गोस्वामीजी ने संस्कृत और लोकभाषाओं की इस विलक्षण क्षमता को परखा और भाषा की वैभव-वृद्धि के लिए उसे अपनाया भी। तुलसी-रचित साहित्य में क्रियाओं के जैसे सुन्दर प्रयोग मिलते हैं, वैसे अभी शिष्ट हिन्दी में विशेष प्रचलित नहीं हुए है। उन प्रयोगों को आधुनिक गद्य में खपाने की चेष्टा भी अधिकारी विद्वान् नहीं करते। इससे भाषा की एक प्रबल शक्ति उपेक्षित रह जाती है।

हिन्दी के प्राचीन गद्य में ऐसी क्रियाएँ मिलती हैं, जो संज्ञा और विशेषण से बनाई गई हैं। हिन्दी के काव्य-ग्रंथों की टीकाओं में जो पुराना गद्य पाया जाता है, उसमें एकाकी क्रियाओं के प्रयोग प्रायः देखने में आते हैं। पुराने गद्यकारों के अतिरिक्त आधुनिक आंचलिक उपन्यासकारों की भाषा में भी कई ऐसे प्रयोग मिल जाते हैं। अवधी और व्रजभाषा के गद्य-पद्य में ऐसे प्रयोगों की बहुलता है। यदि आधुनिक हिन्दी-गद्य में भी ऐसे प्रयोग प्रचलित हो सकें, तो भाषा की शक्ति और संपत्ति ही बढ़ेगी, संभवतः कोई हानि न होगी। सबसे पहले लब्धप्रतिष्ठ गद्यकारों को ऐसे प्रयोगों की ओर ध्यान देना चाहिए।

'मानस' के पुराने टीकाकार महात्मा रामचरणदासजी ने अपनी टीका में 'ध्यावते हैं (ध्यान करते हैं), अनुरागते हैं, प्रचारते है, अनुभवते हैं' आदि क्रियाओं का प्रयोग किया है। वैदिक वाङ्मय के विशेषज्ञ विद्वान् डॉक्टर दामोदर सातवलेकर ने वाल्मीकीय रामायण की अपनी टीका में 'प्रकाशते हैं, उपासते हैं, शोभते हैं, त्यागते हैं' आदि प्रयोगों को अपनाया है। गीता प्रेस (गोरखपुर) से प्रकाशित प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों की टीकाओं में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं। भारतेन्दु-युग के प्रमुख गद्यकार भी 'रमिए, रमिए, सेवते हैं, भावते हैं, छलते हैं, आवगाहते हैं, प्रतिपालते हैं, संकोचते हैं, आचरते हैं, अनुमानते हैं' आदि प्रयोगों को अंगीकृत कर चुके हैं।

आधुनिक हिन्दी-गद्य के प्रभावशाली लेखक यदि इस तरह की क्रियाओं को टकसाली बनाने का प्रयास करने में तत्पर हों, तो हिन्दी का अंग सँवरेगा, कोई सहृदय

साहित्यानुरागी उसे दूषेगा नहीं। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, निबन्ध आदि में ऐसी क्रियाओं के खपाने से कोई अनर्थ होने की संभावना नहीं सूझती। हिन्दी में 'विलाप करती है' के बदले 'विलपती है' लिखना असंगत नहीं जान पड़ता। आज भी लोग प्रायः 'सराहना करते हैं' की जगह 'सराहते हैं' लिखा करते हैं।

राष्ट्रभाषा हिन्दी की शक्ति-वृद्धि के उद्देश्य से अतीत युग के समस्त साहित्य का मन्थन करके यदि केवल एक क्रिया-कोश का ही निर्माण किया जाय और सभी क्रियाओं के रूप शोधकर, उन्हें प्रयोगोपयोगी बनाकर, सोदाहरण प्रदर्शित किया जाय, तो हमारी भाषा विशेष समृद्धिशालिनी हो सकती है।

['परिषद्-पत्रिका', प्रयाग से]

'मैं धोबी हूँ !'

मैं धोबी हूँ, भगवान भी धोबी है। मैं कपड़े धोता हूँ, वे पाप धोते हैं। किन्तु वे पतितपावन कहलाते हैं, मैं सारे समाज की मलिनता का परिष्कार करके भी अछूत कहलाता हूँ! फिर भी, उन्होंने ही मुझे अपने-आपसे भी अधिक पतितपावनता दी है। वे तो केवल उसी पतित या पापी का उद्धार करते हैं जो उनकी शरण में पहुँच जाता है; पर मैं तो स्वयं घर-घर पहुँचकर लोगों का पातित्य दूर करके पवित्रता वितरित करता हूँ। तो भी मैं अस्पृश्य क्यों हूँ? इसका एक पौराणिक कारण है!

जब ब्रह्मा ने मुझे पहले-पहल पैदा किया, मैंने उनसे पूछा—'मैं कहाँ रहूँ, क्या करूँ?' वे बोले—'तुम्हें इन्द्र के पास रहना होगा, उन्हीं के कपड़े धोने होंगे; क्योंकि वे देवताओं के राजा हैं, सबसे बड़े शौकीन और विलासी हैं।' फिर क्या, मैं पहुँचा इन्द्र-लोक। वहाँ नन्दन-वन के कमल-कुमुद-मधुप-मराल-सेवित सरोवरों में कपड़े धोने लगा। उन धुले कपड़ों में हंसों की उज्ज्वलता और कमल-कुमुदों की सुरभि आ जाती थी। अन्नदाता प्रभु इन्द्र मेरे हाथ की सफाई से बड़े सन्तुष्ट हुए। उनके दरबार की अप्सराएँ भी मुझ पर ढलीं। अब मेरे घाट पर रंग-बिरंगे कपड़ों का पहाड़ खड़ा हो गया। महाकवि 'बिहारीलाल' के शब्दों में 'भरगजे चीर' खूब मिलते थे। ऐसी-ऐसी महीन साड़ियाँ जो मुट्ठी में समा जाती थीं। उन्हें निचोड़ने में जितना रसानुभव मैं करता था उतना तो गरीबों को चूसनेवाले नीबू-निचोड़ सूदखोर लहनदार भी न करते होंगे। मैं क्रमशः घोर वसन-व्यसनी बन गया।

एक दिन, संयोग की बात, ऐसी सनक सवार हुई कि मैं उर्वशी और रम्भा की साड़ियों और कुर्तियों को एकान्त में सूँघ रहा था। उनकी मानसोन्मादिनी सुरभि से मस्तिष्क ऐसा आमोदपूर्ण हो गया कि आँखों में मादकता की गहरी लाली उतर आई। बोतलवासिनी देवी की उपासना से भी किसी दिन वैसा उग्र उन्माद न हुआ था। मनोवेग के आवेश में या नशे की झोंक में, न जाने क्यों, मैं उन्हें बार-बार

मुट्ठियों में कसकर दबाता और झकझोरता। इसी तरह चूमते और सूँघते-सूँघते मैं साड़ियों के गट्ठर पर ढेर हो गया।

शायद उसी समय नन्दन-वन-विहारिणी अप्सराओं का झुण्ड सरोवर-तट पर आ पहुँचा। मुझे बँधी मुट्ठियों में साड़ियाँ दबाये अचेत पड़ा देख वे मेरे मुँह पर जल के छींटे देने लगीं। उन शीतल सुरभित विमल जल की फुहारों से मेरी आँखें खुल पड़ीं। देखा तो सामने सौन्दर्य की देवियाँ खड़ी मुस्कुरा रही थीं। मैं थरथरा उठा। मुट्ठियाँ अनायास ही खुल पड़ीं; पर जबान न खुली। मञ्जुघोषा देवी ने पूछा—'तुम्हें हो क्या गया?' मैं त्रासवश बगलें झाँकने लगा। तबतक मेनका देवी बोल उठीं—'यह महाराज इन्द्र का अन्न खाता है, विलासिता के कीटाणु इसके रक्त में भी घुस गये हैं।' इतना सुनते ही उर्वशी और रम्भा, जिनकी साड़ियाँ और कुर्तियाँ मेरे हाथों से छूटकर मेरे आगे गिर पड़ी थीं, अपने तमतमाये हुए चेहरे के रोब से मेरे प्राणों को सुखाती हुई कहने लगीं—'जा, तू स्वर्गभ्रष्ट होकर मर्त्यलोक में अपने मन की मलिन वासनाएँ पूरी कर। यह देवलोक है, यहाँ वासनाओं का गुपचुप खेल नहीं चलता, यहाँ तो लालसाओं की स्वच्छन्द लीला हुआ करती है। कपड़ों की मलिनता दूर करने की शक्ति तुझमें नहीं है। यह काम तो वरुणदेव (जल), पवनदेव और सूर्यदेव की किरणों के प्रताप से होता है। वे हमलोगों के वस्त्रों को दिव्य बनाते थे, तू अपनी वासना से उन्हें बसाता था। तू कर्त्तव्यच्युत अपराधी है। विधाता ने तुझे पतितपावन बनाकर शुभ कर्म सौंपा, तू मनोविकार का शिकार हो गया। तेरी पूर्वकृत सेवाओं का स्मरण कर केवल इतना ही दण्ड दिया जाता है कि पृथ्वीतल के मानव-समाज में तू अस्पृश्य समझा जायगा; क्योंकि वासना तेरी नस-नस में बस गई है। किन्तु तेरे शुभ्र कर्म का जो गुण पवित्रीकरण है उसके प्रभाव से तेरा दर्शन यात्राकाल में सदा मंगलप्रद माना जायगा। देवलोक से तेरा निकाला जाना ही कल्याणकर है।'

मैं अपनी करनी का फल पा गया! गधे पर चढ़ाकर सुरलोक से निकाल दिया गया। वही गधा मेरी सनातन सवारी है! भगवान की तरह अब भले ही मैं पतितपावन नहीं रह गया; पर मेरी-उनकी श्रेणी एक ही है, इसमें कठहुज्जत न कीजिए। मेरी सवारी गर्दभ है—दूर्वाकन्द-निकन्दन वैशाखनन्दन! उनकी सवारी गरुड़ है—सर्पकुल-निकन्दन विनतानन्दन!

मेरी धोबिन तो बस हरी धनिया है—'यस्याः पाणिसरोज-मङ्गमवशात् वासो मलं मुञ्चति।' भगवान् की धोबिन गंगा है—'यस्यास्तीरतरङ्गसङ्गमवशात् पापी मलं मुञ्चति।' मेरा और भगवान् का पुराना नाता है।

फिर मेरी सामाजिक महिमा भी कुछ कम नहीं है। रानी और सेठानी की साड़ी और कञ्चुकी का दरस-परस या तो राजा या सेठ को नसीब होता है या मुझे ही। कवि तो केवल मनमोदक खाते हैं, यहाँ सुन्दरी-से-सुन्दरी युवतियों की रंग-बिरंग साड़ियों

और कुर्तियों से नित्य मेरा घर गमगमाया करता है। उन्हें केवल कचारता ही नहीं हूँ—बिछाता भी हूँ, पहनता भी हूँ; क्योंकि मुझे शापभ्रष्ट की चिरसंगिनी वासना-सखी यही केलि-कौतुक पसन्द करती है। उस समय मैं तो रजक ही रहता हूँ, पर मेरी रजकी तो 'रञ्जक' (बारूद) बन जाती है। बस, मैं भी अपनी 'हरी घनिया' के लिए 'हरा पुदीना' बन जाता हूँ। ['दो घड़ी' से]

'गाँवों का महत्त्व'

भारतवर्ष 'गाँवों का देश' कहलाता है। गाँव ही हमारे राष्ट्र की रीढ़ हैं। वही हमारे अन्नदाता हैं। किसान और मजदूर वहीं रहते हैं। गाँवों में ही भाईचारा पलता है। एक गाँव एक पूरा परिवार है। पड़ोसियों में आपस का मेलजोल देखने लायक है। जरूरत पड़ने पर सब लोग एक दूसरे की मदद के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। ब्राह्मण-छत्री भी दूसरी जाति के स्त्री-पुरूषों को चाची-भाभी और काका-भैया कहते हैं। मंगल-अमंगल में, सुख-दुःख में, संकट-विपद में सबका सहयोग और सद्भाव बना रहता है। हिन्दू और मुसलमान भी शादी-गमी में, परब-त्योहार में, खेती-बारी में, लेन-देन में, बात-चीत और व्यवहार में कोई भेदभाव नहीं रखते। हिन्दू ताजिया में शरीक होते हैं, मुसलमान होली में। पड़ोस का नाता दोनों में बराबरी के साथ चलता है। कुलीनों और हरिजनों में भी ऐसा ही बर्ताव देखा जाता है।

डोम जब सराध में दौरा देता है तब मनचाहा दाम नहीं माँगता, मगर जब शादी-ब्याह में देता है तब हठ ठानकर मुँहमाँगा दाम ले लेता है। धोबी जब गमी के कपड़े धोता है तब सीधा भी नहीं माँगता, मगर सौरी-घर के कपड़े धोने पर भरपूर सीधा और नेग-निछावर हँसा-खेलाकर ले लेता है। सराध की हजामत में नाई का मुँह नहीं खुलता, मगर ब्याह के नहछू और रीति-रसम में पग-पग पर सोलह आने ही चाहता है। बढ़ई या लुहार जब अरथी बनाने आता है तब उदास मन से बनाकर चुपचाप घर चला जाता है, मगर जब ब्याह में माँड़ो के बाँस काटने आता है या वर-कन्या के लिए पीढ़े बनाकर लाता है तब छप्पन टके और जोड़े रुपये के साथ पीली धोती भी माँगता है। कुम्हार भी सराध में मिट्टी के बरतन खुद ढोकर पहुँचा जाता है और दाम को मालिक या गृहस्थ की मर्जी पर छोड़ देता है, मगर मँड़वे का हाथी और कलसा देते समय पाँचों टूक पियरी पाने को मचल जाता है। इस तरह गाँवों के समाज में, एक दूसरे के सुख-दुख में शामिल रहकर, आपस की हमदर्दी और मेल-जोल कायम रखते हुए, सब-के-सब प्रेम और शांति से रहते हैं।

तन्दुरुस्ती के ख्याल से भी गाँवों का बड़ा महत्त्व है। आँखों को वहाँ हरियाली मिलती है, साँसों को खुली हवा। अन्न और दूध-घी शुद्ध रूप में मिलते हैं। थोड़े ही खर्च में जिन्दगी निबह जाती है। फालतू खर्च की चिन्ता नहीं करनी पड़ती।

कपड़े-लत्ते में भी वहाँ कोई आडम्बर नहीं है। हमेशा सादगी से ही रहना पड़ता है। इससे खुली देह में हरदम हवा और धूप लगती रहती है। खेत-खलिहानों और बाग-बगीचों में घूमते-फिरते रहने से आदमी और मवेशी दोनों ही नीरोग रहते हैं। घास-पात और फूल-फल से ही साधारण रोगों की दवा हो जाती है। ढेंकी और चक्की स्त्रियों को भी तंदुरूस्त रखती हैं।

गाँवों में स्वदेशीपन भी कुछ कम नहीं है। दिन में छप्पर के छोर की छाया और रात में आसमान के तारे वहाँ घड़ी का काम देते हैं। मुर्गा बोला या चुहचुहिया बोली, रात के अन्त का अन्दाज लग गया। कौआ बोला, सुबह हो गई। जंगल-मैदान से चरकर गाय बथान पर आई, शाम हो गई। बाँस की कुंजें चिड़ियों के चहकने से गूंज उठीं, दिन के अन्त का पता लग गया। पंचायत के लिए पंडाल की जरूरत नहीं, हरिशंकरी के पेड़ की छाया काफी है। सभा के लिए भी घनी अमराई ही पंडाल है और चौपाल ही कौंसिल का कमरा है। जैसे मुर्गा-कौआ घड़ियाल का काम देते हैं वैसे ही कुत्ता वहाँ पहरुआ चौकीदार है। बछड़े को दूध पिलाती हुई गाय, जल से भरा घड़ा लेकर जाती हुई पनिहारिन और धुले कपड़े लेकर सामने आती हुई सुहागिन धोबिन वहाँ शुभ यात्रा की पहचान है। जैसे चौकीदारी के लिए कुत्ता घर-घर में दो-चार कौर पाकर मस्त रहता है, वैसे ही प्रिय का सँदेसा सुनाकर कौआ भी दूध-भात पा लेता है। ढोल और झाल यहाँ के बाजे हैं, 'सत्यनारायण की कथा' वहाँ का वेद-पुराण है। पुरोहितजी का पत्रा वहाँ का धर्मशास्त्र है। इस तरह भारतीय संस्कृति या हिन्दुस्तानियत का गढ़ वहीं पर है। ['ग्राम-सुधार' से]

ग. संस्मरण

'पं. किशोरीलाल गोस्वामी'

उनके दर्शन एवं सत्संग का सुअवसर मिला—सन् 1923 में काशी में। काशी में देखा था कि तकिया में भी इत्र लगाते थे, जहाँ खिड़की के सामने छोटे गद्दे पर बैठते थे वहाँ की दीवार और खिड़की के किवाड़ तक में इत्र—लिहाफ की तो बात न पूछिए, मशहरी में भी इत्र! आख़िरी बुढ़ापे में यह हाल था, जवानी में राम जाने कैसे सौरभ-विलासी रहे होंगे।

सच तो यह है कि वे कभी बूढ़े हुए ही नहीं। शरीर पर बुढ़ापे के लक्षण व्यक्त हो गये थे; पर मन में नौजवानों-जैसी उमंग भरी थी—भरी ही नहीं थी, उबलती-उफनाती रहती थी। देह जितनी ही फुर्तीली, वाणी उतनी ही रसीली ! आवाज पक्की और बुलन्द, ठहाका सचमुच गगनभेदी ! न बातें करने से थकते, न हँसने से। किसी हिन्दी-प्रेमी कामकाजू आदमी को भी, मिल जाने पर, जल्दी छोड़ते न थे। उनसे

पिण्ड छुड़ा लेना आसान काम न था। यद्यपि उनकी बातें बड़े मजे की और बड़े पते की होती थीं—किसी-न-किसी प्रकार का साहित्यिक अथवा बनारसी चमत्कार उनमें अवश्य होता था, तथापि उनके समान सबके पास फालतू समय नहीं था। सच कहा जाय तो फालतू समय उनके पास भी नहीं था, मगर किसी साहित्यानुरागी अथवा साहित्यसेवी के मिल जाने पर कमल-कोष का मधुप बन जाते थे।

काशी में, नन्दन साहू की गली में, उनका अपना खास मकान था—छोटा-सा, सुन्दर, सजीला, आरामदेह—एक शिष्य का दिया हुआ। ऊपरवाले कमरे की खिड़की पर सुमिरनी लिये बैठे रहते थे। मजाल नहीं कि कोई साहित्यिक व्यक्ति उनकी आँखें बचाकर निकल जाय! 'राम झरोखे बैठकर सबका मुजरा लेय'—गली से गुजरनेवाले हरेक व्यक्ति पर उनकी पैनी निगाह पड़ती थी और किसी परिचित साहित्यिक को कन्नी दबाकर निकलते देख दूर ही से ललकारते थे—'का हो! ऐसे भौं बचा के सरके जात हौ?' जब कभी हमलोग एक साथ उनकी ओर होकर निकलते, दूर ही से बनारसी बोली में आवाज देते—'क्यों राजा! इस तरह आँख चुराकर बुढ़वा को झांसा दोगे?'

उनके आवाज कसने के कई निराले ढंग और लटके थे। उनकी छेड़खानियों में विशुद्ध स्नेहपरायणता और सहृदयता होती थी। पुकारकर झट नीचे उतर आते और दरवाजा खोलकर ऊपर के बैठकखाने में ले जाते—अपने हाथों पान बनाकर खिलाते, कभी-कभी अपने ही हाथों इत्र भी लगा देते, फिर साहित्यिक पवारा शुरू हो जाता! भारतेन्दुजी के दरबार की बातें सुनाते, जहां वह दस-बारह वर्ष के बालक के रूप में अपने नाना के साथ जाया करते थे; 'सरस्वती' पत्रिका के जन्म की कहानी सुनाते, जिसके आदि-सम्पादकों में वे भी एक थे; कभी मौज आ जाती तो अपना बस्ता खोलकर पोथा निकालते, जिसमें से अपनी सतसई के दोहों की चाशनी चखाते। समस्यापूर्तियाँ सुनाते—कवित्त सवैयों को रसानुकूल स्वर में पढ़कर चित्र खड़ा कर देते। नयी-नयी चीजें भी तैयार करते रहते थे। जब जैसी तरंग आ गई, तुरन्त लिखकर रख छोड़ा। कभी संस्कृत के श्लोकों में, कभी व्रजभाषा के विविध छन्दों में, कभी खड़ीबोली के पद्यों में, कभी-कभी ललित गद्य में भी, अपने सरस उद्‌गारों और हृदयोच्छ्‌वासों को संचित करके रखते जाते।

हम लोग नीचे उतरकर आपस की बातचीत में कहते—'यह बूढ़ा न जाने केशवदास का अवतार है या पंडितराज जगन्नाथ का! रसिकता इसकी नस-नस में समायी हुई है—बोटी-बोटी इसकी फड़कती रहती है।' मैं तो उनकी जिन्दादिली और उमंग-तरंग देखकर हैरान रहता। हर घड़ी बुढ़ापा के पीछे लट्ठ लिये पड़े रहते। हम जवान भी उनके हौसले देख दंग रह जाते। उनके स्फूर्तिशाली अंगों की भावभंगिमा भी देखते ही बनती थी। बोलते समय के अंगसंचालन से भी थकते न थे। हम लोग उन्हें जरा-सा छोड़ देते, बस वे सजीव ग्रामोफोन बन जाते। न जाने ईश्वर ने उन्हें

लगातार बोलते रहने और लिखते जाने की कितनी शक्ति दी थी। फागुन और सावन में तो साहित्यिक होली ओर कजली भी गाकर सुनाने लगते थे—'यह भारतेन्दु की बनाई हुई है, अब एक 'प्रेमघन' की भी सुन लो! अरे, अम्बिकादत्त व्यास और प्रतापनारायण मिश्र की भी एकाध सुनते जाओ।' इस तरह, ऐसा लासा लगाकर कम्पा भिड़ाते कि लाख पंख फड़फड़ाने पर भी सहसा बच निकलना कठिन हो जाता। कभी-कभी हम लोग समयाभाव-वश उनके शिकंजे से बचने के लिए उधर का रास्ता ही छोड़ देते। पर जब कभी दो-चार घंटे का निश्चित अवकाश मिलता, हम लोग मनसूबा बांधकर उनसे मिलने जाते। मगर गली के नुक्कड़ पर पहुँचते ही जान-बूझकर छिप निकलने का नाट्य करते; क्योंकि उनका आवाज कसना सुनने का यही तरीका था।

प्रायः अपराह्न में ही वह अपनी खिड़की पर बैठते थे—संध्यावन्दन के पहले तक। पूर्वाह्न में कभी-कभी एकाध घंटे के लिए मेले-तमाशे की मौज लेने बैठ जाते थे। इसलिए प्रायः पूर्वाह्न में उधर का रास्ता खतरे से खाली रहता; क्योंकि उस समय अगर देख भी लेते तो ऊपर से ही दो-चार बातें करके छुट्टी दे देते। कारण प्रातःकाल से मध्याह्नकाल तक स्नान-ध्यान और खान-पान का क्रम चलता रहता। श्रीमद्भागवत और भगवद्गीता का पाठ रोज करते थे। स्वयंपाकी थे, रेशमी कपड़ा पहनकर एक ही जून चौका चेतते और रात में सिर्फ दूध लेते। निम्बार्क-सम्प्रदाय में भोजन की स्वच्छता और विविधता का क्या कहना! स्वयं चावल अमनिया करते, साग-भाजी सुधारते और मगही पान को बड़े प्रेम से पोसते थे। उनसे नाना प्रकार के भोज्य पदार्थों की नामावली सुनने में बड़ा आनन्द आता था। षट्रस भोजन के उतने प्रकार निम्बार्क-सम्प्रदाय में भी कम लोग जानते होंगे, और जानते भी हों तो असंख्य नाम याद रखना सबका काम नहीं।

गोस्वामीजी तो मीठा-नमकीन के अनगिनत भेद बतलाने लगते थे। उनके गोपाललालजी को अन्नकूट के दिन क्या-क्या भोग लगता है, यह गिनाने लगते थे तो जान पड़ता था कि भोजन-विषयक कोई 'अमरकोष' घोख गये हैं। इतना ही नहीं, गोपाललालजी कितने प्रकार के खिलौने खेलते हैं, कितने प्रकार के फूलों की माला पहनते हैं, अपनी गायों और उनके बछड़ों को कैसे-कैसे सुघड़-सलोने नामों से पुकारते हैं—इत्यादि बातें भी पूरे विवरण के साथ कह जाते थे। उस वृद्धावस्था में उनकी स्मृतिशक्ति देखकर आश्चर्य होता था। उन्हें वस्तुओं के नाम गिनाते देख 'जायसी' की याद आ जाती थी। मिठाइयों, गहनों, खिलौनों और फूलों के नामों की असंख्यता तो आश्चर्यजनक थी ही, एक बार किसी नवाब साहब के साथ मुलाकात की चर्चा करते हुए घोड़ों की किस्में लक्षण-सहित गिनाने लगे तो दंग रह जाना पड़ा!

'देवोपम पुरुष निराला'

निरालाजी क्रान्तिकारी विचार के थे। उन्होंने काव्यशैली में क्रान्ति उपस्थित कर दी। वह युग-प्रवर्तक थे, साहित्य-क्षेत्र में नवयुग का सुप्रभात दिखाकर उन्होंने अपना नाम सार्थक किया। सब सही है, पर सबसे बढ़कर वह देवोपम मनुष्य थे। उनकी मनुष्यता ने ही समस्त लोक-मानस को अपनी ओर आकृष्ट किया। यदि वह निष्कपट हृदय और उदात्त चरित्र के व्यक्ति न होते तो केवल प्रतिभा से साहित्यिक समाज के हृदय पर एकाधिपत्य स्थापित न कर पाते। पूर्ण मानवता ने उनकी प्रतिभा को विशेष उद्दीप्त कर दिया। उनके मनुष्यत्व की महिमा से जो परिचित हैं वे उनके विषय में फैली हुई भ्रान्त धारणाओं को सर्वथा निराधार मानते हैं।

निराली की ये कहानियाँ आज के युग में उपन्यास की मनगढ़न्त बातें समझी जाएं भले ही, पर आज जो निराला की पूजा-प्रतिष्ठा हो रही है उससे उनकी साधना स्वतः सिद्ध हो रही है। पुण्य-बल के बिना कीर्ति-प्रसार कदापि नहीं होता। निस्पृह त्याग से बढ़कर कोई पुण्य भी नहीं। व्यास-वचनानुसार 'परोपकाराय पुण्याय' तभी मनुष्य कर पाता है जब उसकी प्रकृति में त्याग-वृत्ति की प्रधानता रहती है।

निराला तो अपने जीते-जी ठीक-ठीक परखे ही नहीं गये। उनकी दीनबन्धुता को निगोड़ी दुनिया ने विक्षिप्तता की संज्ञा दे डाली। उनका त्याग भी स्वार्थी समाज में उनका पागलपन ही समझा गया। पर कठोर सत्य तो यह है कि निराला ने संसार या समाज की कुत्सा पर कभी कान ही न दिये। यावज्जीवन वीतराग की तरह रहे। ऋणी भी हुए तो परहितार्थ ही। लड़े-झगड़े भी तो न्याय के पक्ष पर अडिग रहकर। अपनी पीर गाई और पराई पीर संजोई। स्वाभिमान के सर्वोच्च शिखर पर बैठे रहकर फकीरी-बेफिक्री से संसार की ओर उपेक्षा भरी कनखियों से देखा। स्वयं हलाहल के घूंट पीकर दूसरों को अमृत ही पिलाते रह गए। समाज में त्यागी और साहित्य में बागी इस युग में दूसरा ऐसा हुआ ही कौन?

एक बार पुष्प-प्रदर्शनी (कलकत्ता) में सेठजी ने पाँच रुपये में खरीदकर एक सुन्दर गुलदस्ता निरालाजी के हाथ में थमाया। जब घूम-फिरकर सब लोग कार्यालय में आये तब पता चला कि वह गुलदस्ता प्रदर्शनी में ही कहीं छोड़ आये, जिसके लिए उनको साथ लेकर सेठजी फिर ट्राम पर प्रदर्शनी गये, पर निरालाजी को स्मरण ही न रहा कि कहाँ छोड़ा! सेठजी ने जाड़े में उनके लिए शकरपारे की एक निहायत नफीस दुलाई बनवाई। बड़े प्रेम से ढाका-मलमल खरीद लाये, बढ़िया रंगों में दोनों पल्ले रंगवाये, रूई भी लाल-हरी रंगी गयी, उस पर अबरक की परतें जड़ी गयीं, साटन का चौड़ा हाशिया चारों ओर लगा, ऊपर से घनी सुजनी भी पड़ी। निराला ओढ़कर मुसकराये भी, पर एक-दो सप्ताह बाद उसे एक भिखमंगे को ओढ़ा दिया। कड़ाके की सर्दी में वह मंगन खुले अंग उनके सामने आ गया, बस झट अपने तन

से उतारकर उसकी देह पर अपने ही हाथों लपेट दिया। मैंने औचक ही देखा, तो सेठजी और मुंशीजी को प्रेस में से बुलाने दौड़ा। जब तक वे दोनों बाहर आये तब तक वह नकलची मंगन छूमन्तर हो गया। कल्पनातीत प्रसाद पाते ही उसके पैरों में पंख लग गये। सेठजी स्वयं दौड़ पड़े, पर वह भाग्यवान क्यों मिलने लगा! और निरालाजी? वह खिलखिलाकर हँसते ही रहे, 'क्यों आप लोग परेशान हो रहे हैं—बेचारा आराम से जाड़ा काटेगा!' सेठजी ने हँसकर ही कहा, 'आप धन्य हो, महाराज!'

निरालाजी वास्तव में निराला ही थे। अंगूर का गुच्छा या मस्कट के मीठे खजूर की पुड़िया किसी भिखारी के हाथ में देते समय हँसकर कह भी देते थे कि इसे मेरे सामने चखकर देखो तो कैसा है। जब मुंशीजी टोकते थे कि उसे भरपेट चना-चबेना खाने को नकद पैसे ही क्यों नहीं दे देते महाराज, तब एक-दो सन्तरे उसके हाथ पर और रख देते थे, चाहे वे बेशकीमती नागपुरिया हों या सिलहट के। एक दिन एक कंगले को लाल सेब देकर उसे सीख देने लगे कि इसे तू खाएगा तो तेरा चेहरा ऐसा ही सुर्ख बन जाएगा, जिस पर उसने दीनतापूर्वक हँसकर कहा कि एक दिन आपकी मर्जी से यह खाने को मिल ही गया तो क्या इतने से ही मेरे सूखे बदन में खून आ जाएगा, मालिक! यह सुनकर निराला ने सेठजी से कहा कि इसे दो रुपये दे दीजिए, यह और भी खरीदकर खाएगा। सेठजी ने भी बिना हिचक वैसा ही किया और जब मुंशीजी ने ठहाके के साथ यह कह दिया कि इतने पैसे से भी यह नया खून लाने भर सेब नहीं खा सकता, तब अपनी जेब से झट निकालकर एक रुपया फिर दे दिया। तब तो इधर-उधर से दौड़े आते हुए मंगतों को देख सेठजी उन्हें साथ खींचकर आगे बढ़ चले।

कलकत्ता-सदृश महानगर की सड़कों की दोनों पटरियों पर वह ढूंढते फिरते थे कि वस्तुतः कौन बेचारा कैसी दुर्गति में है। उनका अधिकांश अवकाशकाल दीनों की दुनिया में ही बीतता था। वहाँ फुटपाथों पर भिखारियों के सिवा बहुतेरे निराश्रित गरीब और कुली-कबाड़ी भी रात में पड़े रहते हैं। उनके लिए बीड़ी, मूढ़ी, भूंजा, चना, मूंगफली आदि खरीदकर वितरण करनेवाला धनकुबेरों की उस महानगरी में निराला के सिवा दूसरा कोई न देखा गया। बड़े-बड़े सेठ धनीधोरी रात में भी उन पटरियों पर से गुजरते थे, पर कहीं-कहीं कभी दो-चार पैसे फेंकनेवाले भले ही दीख जाएं, निराला की तरह उन दीनों से आत्मीयता स्थापित करनेवाले ढूंढ़े भी नहीं मिल सकते थे।

उनकी सेवा-भावना का तो कहना ही क्या! 'मतवाला' के प्रथम कार्यालय (23, शंकरघोष लेन) के पिछवाड़े विद्यासागर कॉलेज था। उसकी एक सभा में हमलोग जा रहे थे। कार्नवालिस स्ट्रीट की फुटपाथ पर आर्य समाज मंदिर के सामने एक कुत्ता कराहता पड़ा था। उसकी पीठ पर एक पका घाव था। देखते-देखते उसके पास

बैठ गये। सभा का समय हो गया था। पर वह झट उठकर सामने के दवाखाने से मरहम की डिबिया खरीद लाये, अपने रूमाल से घाव पोंछकर फेंक दिया और सारा मरहम उसके घावों पर लेप दिया। उसके बाद ही नल पर हाथ धोकर सभा में गये। मुंशीजी ने सभा से लौटती बार विनोद किया कि बेचारे को कुछ खाना भी दे दीजिए, तो तुरंत खोमचेवाले से पकौड़ियां लेकर कुत्ते के आगे रख दीं। वह आतुरता से गपकने लगा तो खिलखिलाकर हँसने लगे।

सुहृद्-संघ (मुजफ्फरपुर) के वार्षिकोत्सव से लखनऊ लौटते समय मुझसे मिलने के लिए बीच में छपरा उतरे तो रिक्शेवाले की फटी गंजी देख उससे हाल-चाल पूछने लगे और एक नयी गंजी तथा एक नया अंगोछा खरीदकर अपने सामने ही फटी गंजी निकलवाई और नयी पहनाई। वह बेचारा रोता हुआ उनके चरणों पर लोटने लगा। ऐसे उपकार वह किया करते थे।

घ. डायरी

30 नवम्बर, 1951

महीने का अन्त होते-होते बिलकुल निकौड़िया हो जाता हूँ। प्रथम सप्ताह में बाढ़ आती है, दूसरे सप्ताह में बहकर निकल जाती है, पीछे मरुस्थल छोड़ जाती है। मरुभूमि में भी रामकृपा से शाद्वलभूमि मिल जाती है जहाँ जल की पतली-सी सोती अति क्षीण गति से बहती रहती है और हरियाली भी बनी रहती है। भगवत्कृपा का भरोसा मन में रहता है केवल स्वार्थसिद्धि की भावना से। स्वार्थ और भय छोड़कर कब भगवान का भजन हो सकेगा? सांसारिक प्रपंच में अमूल्य मानव-जीवन बीतता जा रहा है। कब भजन का समय मिलेगा? चिन्ता यही है।

10 फरवरी, 1952

हे प्रभो, अब तो मन्दिर में जाकर आपके शुभदर्शन का सौभाग्य प्राप्त करना भी दुर्लभ हो गया। आपकी दिव्यमूर्ति की बाँकी झाँकी अब इन अभागी आँखों को कभी नसीब नहीं होती। जी तड़पकर रह जाता है। किस पाप का यह फल आपने मुझे दिया है? अब ये आँखें मोर के पंख के चमकीले चिह्न या चित्र के समान हो गयीं। मोर का पंख तो मोरछल या मोरपंखा बनकर आपकी सेवा में पहुँच जाता है तथा उसे आप अपने मुकुट में भी स्थान देते हैं; पर इन निस्तेज और निष्प्राण नेत्रों को तो आप अपनी झलक तक देखने नहीं देते। रामचरित मानस और श्रीमद्भगवद्गीता तथा बृहत्स्तोत्ररत्नाकर का पाठ छोड़ देना पड़ा। अब तो केवल ध्यान और जप तथा नाम का सुमिरन ही आधार रह गया। मधुप्रमेह या बहुमूत्रता के कारण अब शरीर और वस्त्र तथा यज्ञोपवीत प्रायः अशुद्ध अपवित्र ही रहता है। ऐसी दशा में आपके मन्दिर में कैसे प्रवेश करूँ? झांकी-झलक मिल जाती तो आपकी

पतितपावनता का भरोसा करके मन्दिर-प्रवेश का दुस्साहस भी करता; पर आप तो इस शेष जीवन में सदा के लिए आँखों से ओझल हो गये। अब मोतियाबिन्द आपके दर्शनों का सौभाग्य नहीं प्राप्त होने देगा। निश्चय ही यह आपकी ही इच्छा है। हे प्रभो! आप सर्वथा समर्थ हैं—"सब समर्थ कोसलपुर राजा, जो कछु करैं उन्हें सब छाजा"—तुलसी की चौपाई सदा ध्यान में रहने लगी है अब। चाहे लाख अपनी कृपा से वंचित कीजिए, शरण आपकी ही गही है। भला बताइये तो, आपके मनमोहन रूप का ध्यान और आपके भव-तारक नाम का जप क्या दर्शन और पूजापाठ से कम है? भक्तवत्सल प्रभो!

8 जून, 1952

आज कबीर की जयन्ती मनाने की सुधि किसको है? साहित्यिक संस्थाएं भी उदासीन हैं। साहित्यिक सज्जन भी मौन हैं। हिन्दी पत्रकार तो कभी साहित्यिक पर्वों पर सजग नहीं देखे जाते। फिर समाज में चेतना कौन जगावेगा? महात्मा कबीरदास ने समाज का बड़ा उपकार किया। उन्होंने जड़ पकड़ी, मूल बात पर ही ध्यान दिया। मन की एकाग्रता और निर्मलता, विश्व के प्रति कण में प्रभु की सत्ता-महत्ता के दर्शन, जीवदया और परोपकार, सुमिरन और भजन, राम-नाम का आधार, विश्वबन्धुत्व और विश्वप्रेम, यही उनका सन्देश है। आज हिन्दू और मुसलमान उनके उपदेशों का तत्त्व समझ लेते तो भारत-राष्ट्र की जटिल समस्याएँ हल हो जातीं। निर्गुणोपासक होकर भी मनुष्य ईश्वर का भक्त बन सकता है। मन्दिर में न जाय, गंगा में न नहाय, चन्दन-माला न धारण करे, पोथी न पढ़े; केवल सदाचारी और दयावान बन जाय—केवल लोक कल्याण के कामों में तत्पर रहे, सांस-सांस में सुमिरन करता रहे, कण-कण और जन-जन में प्रभु की सत्ता निहारता चले बस वही भक्त महात्मा है। सब लोग सहज ही निर्गुणोपासक भक्त नहीं हो सकते, इसलिए सगुणोपासना अत्यावश्यक है। मूर्ति पूजा साधना है। साधना की सिद्धि अन्त में होती ही है। जप और ध्यान, सुमिरन और भजन मूल पदार्थ।

12 मार्च, 1956

लाल कनैल अब खूब फूलने लगा। सुबह-शाम पूजा के लिए काफी फूल मिलने लगा। अब बेला-मोतिया के फूलने का समय भी आ पहुँचा। जूही-चमेली भी अब फूलेगी। गुलाब की ऋतु तो चैत है ही, वह भी आ पहुँचा। वसन्त के शुभागमन से पहले ही बहुतेरे फूल फूलने लगे। प्रकृति के बँधे नियमों की विशेषता देखकर पुरुषोत्तम की माया अथवा लीला अथवा योगमाया के प्रभाव का ध्यान आता है। संसार का रचयिता धन्य है। उसका पालक-पोषक तो धन्य है ही। उसका नाशक भी अद्भुत है, जो प्रलय के अन्दर से सृष्टि का श्रीगणेश कर दिखाता है।

10 जुलाई, 1956

बाबा भीखमदास की ठाकुरबारी में प्रतिदिन प्रातःकाल पुष्पाञ्जलि चढ़ाने के लिए फूल ले जाता हूँ। डोलची में फूल भरकर रामजी के सामने रख देता हूँ और हाथ जोड़कर कहता हूँ—हे प्रभो! इन फूलों को स्वीकृत करके मुझे कृतार्थ करो। कभी-कभी आभास-सा मिलता है कि रामजी मुस्कुराकर स्वीकृति दे रहे हैं। फिर पंखा खींचता हूँ, आरती के समय झाँझ बजाता हूँ, कभी-कभी पुजारीजी चँवर दे देते हैं तो चँवर झलता हूँ, फिर आरती के बाद स्तुति करते समय भी पंखा खींचता हूँ। मन में विश्वास होता है कि रामजी मेरी श्रद्धा-भक्तिमयी सेवा अंगीकृत करते होंगे। हनुमानजी से भी यही याचना करता हूँ कि मेरी प्रार्थना की पहुँच रामज़ी के चरणों तक हो जाय, रामजी की शरण में मेरी पैठ हो, रामजी के दरबार में मेरा गुजर हो। शिवजी से भी रामभक्ति ही माँगता हूँ। शिव और हनुमान ही रामभक्ति के भण्डारी हैं। दोनों एक ही हैं। एकादश रुद्र हनुमान ही तो हैं। . . .

6 अगस्त, 1956

पूजा-फूल चुनते समय फूलों से कहता हूँ कि भगवान के आराध्य चरणों पर चढ़ने के लिए चलो और अपना जीवन धन्य तथा सार्थक करो। जो फूल हाथ से छूटकर गिर पड़ता है उसको अभागा समझता हूँ। बड़े भाग्य से भगवान के चरणों तक पहुँच होती है। यदि कोई अधखिला फूल झटके में टूट जाता है तो कष्ट होता है। एक ही गुच्छे के सभी फूलों को तोड़ने में भी चिन्ता होती है। गुच्छे को पुष्पशून्य करते हुए हृदय में यह भाव उठता है कि फूल का पेड़ अपने मन में क्या कहता होगा। पेड़ में भी जान है। फूल में भी जान है। पेड़ सींचने पर हराभरा होता है। सिंचाई से फूल में भी सुगन्ध और रंगीनी तथा मृदुलता बढ़ती है। पेड़ की सेवा न होने से वह उदास मालूम होता है। पेड़ भी प्यार चाहता है। फूल भी सहृदयता चाहता है। अब मैं वृक्षों की सेवा करने योग्य नहीं हूँ। जब शरीर में शक्ति थी तब लहेरियासराय और छपरा में वृक्षों और पुष्पों की रक्षा तथा सेवा किया करता था।

21 दिसम्बर, 1956

प्रकृति-स्वरूपिणी नारी और परमपुरुष-रूपी नर से संयोग होने पर सृष्टि होती है। दोनों के संयोग से ही सृष्टि का क्रम चलता रहता है। पृथ्वी और वनस्पति में प्रकृति देवी का निवास है। अतः उन्हें जुड़वाने के लिए परमपुरुष वर्षा-रूपी वीर्य-क्षरण करता है। पर्याप्त वृष्टि से प्रकृति शान्त-शीतल होकर नाना रूपों में नयी सृष्टि करती है। यही क्रम समस्त प्राणियों अथवा जीवधारियों में चलता है। जड़ और चेतन, सबमें ब्रह्म की सत्ता गुप्त है और प्रकृति की सत्ता से उसका अदृश्य संयोग होता रहता

है। इसीलिए जड़ पदार्थ भी बढ़ते और छीजते हैं, पत्थर की गति भी परिवर्तनशील है, समय की अवधि न्यूनाधिक हो सकती है। संसार में एक ही मुख्य सत्ता का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त प्रतीत होता है। यह अनुभूति साधना-साध्य है।

21 मार्च, 1958

"श्री रामचन्द्र कृपालु भजुमन" नामक तुलसीकृत विनयपत्रिका-पद में "उदार अङ्गा विभूषणम्" का विचित्र अर्थ ध्यान में अचानक आया। रामजी के उदार अंगों में विभूषण सोहते हैं। उनके अंग उदार हैं। नेत्र सदा कृपादृष्टि करते हैं। कान सदा दीनों और पतितों की विनती सुनते हैं। हाथ सदा शरणागतों को अभयदान देते हैं। चरण सदाभक्तों के मन को रमाते हैं। सभी अंगों की उदारता अवर्णनीय है। छाती पर भृगुलता स्पष्ट साक्षी है।

ङ. व्यंग्य-विनोद

'मतवाला'

— " 'आर्य-सेवक' कहता है कि भारतवर्ष में 35 लाख विधवाएँ हैं, जिनमें 34 लाख केवल हिंदू हैं। 22 करोड़ हिन्दुओं के लिए इतनी विधवाएँ तो 'दाल में नमक' के बराबर भी नहीं हैं।" (19.4.23)

— "स्वर्ग से निकलने पर हजरत आदम को जितना दुख हुआ था, उतना ही भारत-परित्याग करने पर लॉर्ड विलिंग्डन को भी हुआ। कहा जाता है कि जहाज पर सवार होने के समय इनकी आँखे डबडबा आई थीं। यहाँ की नवाबी की स्मृति अभी बहुत रुलायेगी।" (19.4.23)

— "स्वीडन देश के एक किसान ने 69 वर्ष की अवस्था तक तीन विवाह किये हैं। इन तीनों विवाहों से उसके 39 बच्चे उत्पन्न हुए हैं। पहली पत्नी से 15 दूसरी से 12 और तीसरी से भी बारह। जिसके वंश का चिराग़ बुझ रहा हो उसे इस कर्मण्य पुरुष को बुलाना चाहिए।" (6.10.23)

— "जर्मनी के एक वैज्ञानिक ने चुंबन नापने का एक यंत्र बनाया है। उस यंत्र के द्वारा मालूम हुआ है कि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष ज्यादा कसकर चुंबन करते हैं। यह तो पहले से ही नाप-तौलकर सोची-समझी हुई बात थी। इसके लिए नई कल इजाद करने का कष्ट क्यों किया गया?" (6.10.23)

— "स्कॉटलैंड के एक सज्जन चरखे में दो चूहे जोतकर सूत निकलवाया करते हैं। अच्छा, उन सूतों से जब कपड़ा बनेगा तब चूहे अपना मेहनताना वसूल कर लेंगे।" (20.10.23)

— "पहले अंधे लोग उठे हुए अक्षरों को हाथ से टटोलकर पढ़ा करते थे। अब बिना हाथ के एक अंधे ने जीभ से टटोल कर सारी बाइबिल घोख डाली है। अब यह कोई नहीं कह सकता कि केवल कीड़े ही किताब चाट जाते हैं।" (10.11.23)

— "स्वीडन देश की एक स्त्री छत्तीस वर्ष बाद सोकर उठी है। पता लगाना चाहिए, कहीं वह 'रिप वान विंकल' के खानदान की न हो !" (15.12.23)

— "बांदा-जिले के राजपुर नामक गाँव में, महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी के स्मारक-स्वरूप, प्रति वर्ष, मार्च के आरंभ में, चार रोज लगातार, 'तुलसी-मेला' लगेगा और उसमें कवि-सम्मेलन भी होगा। असल मेला उनकी ससुराल में लगना चाहिए, क्योंकि वहीं उन्हें भक्ति और कविता की पिटारियों की कुंजी मिली थी।" (1.3.24)

'जागरण'

— " 'विश्ववाणी' के प्रथमांक में उसके सुयोग्य संपादक डॉक्टर हेमचंद्र जोशी लिखते हैं—'हिन्दी में साहित्य तब पैदा होगा, जब लेखक के रक्त से लिखा जायगा।' इससे तो यही प्रकट होता है कि जोशीजी महाराज कभी हिन्दी के लेखक रहे ही नहीं हैं। सचमुच अगर रहे होते, तो अवश्य कहते कि आज हिन्दी में जो कुछ भी साहित्य पैदा हुआ है, वह लेखकों के रक्त से ही लिखा गया है। अब क्या आप हाड़-मांस भी चाहते हैं?" (11.2.32)

— "हिन्दी-संसार में कितने ही ऐसे कुंभज और वृकोदर हैं, जो बेचारे लेखकों का पारिश्रमिक हड़पकर डकार तक नहीं लेते! क्या ऐसे लागों को सूली पर चढ़ाने वाला कोई न्यायालय हिन्दी-संसार में है?" (4.6.32)

— "श्री प्रेमचंद जी श्रावण में 'जागरण' को गोद ले रहे हैं, और सुनते हैं कि श्रावण का दत्तक बड़ा होनहार होता है। अच्छा बेटा 'जागरण' ! 'तुम नीके रहो उनही के रहो'।" (17.7.32)

— "कविताएँ हमारे पास इतनी इकट्ठी हैं कि साप्ताहिक संस्करण भी साल-भर केवल कवितामय निकल सकता है। कोई-कोई कविता इतनी लंबी-चौड़ी है कि अकेले ही एक पूरे अंक को ढँक सकती है। कवियों का मस्तिष्क सब लोग देखते हैं, सौभाग्यवश हमने कवियों की अंतड़ियाँ भी देख लीं।" (17.7.32)

'सरस्वती'

— "दुष्ट जिसके पीछे लग जाते हैं उसकी दुर्दशा कर डालते हैं। 'वसंत' कैसा सुंदर शब्द है। किन्तु जब इसके पीछे 'उल्लू' और 'घोंघा' शब्द लग जाते हैं तब इसकी मिट्टी खराब कर देते हैं।"

— " 'कल्याण' में उड़िया बाबा ने उपदेश दिया है कि 'स्त्री को देखते ही ऐसा विचार करो कि यह मल-मूत्र का थैला है और मन से उसको चीरकर देखो, ऐसा करने से काम विकार न होगा।' वाह रे उड़िया बाबा! आपने तो चुटकियों में माया का किला उड़ा दिया! अब ब्रह्मा दादा हाथ-पर-हाथ धरे मौज से बुढ़ापा खेपें। चित्रगुप्त चाचा भी अपना दफ्तर बंद कर दें। एक ही 'गोरखपुरिया पैसे के नुस्खे' में भू-भार भंजन का डाला बाबा ने।"

— " 'कामा' और 'हाइफन' की तरह हिन्दी में 'हलंत' भी अब पाँव फैला रहा है। 'गत् वर्ष, दृष्टिपात्, श्रीमत्भागवत, प्रतिष्ठित्, अधिकृत्, परिलुप्त् आदि का व्यवहार दिन-दिन बढ़ रहा है। हिन्दी में 'जगत्, किंचित्' आदि शब्दों से हलंत हटा दिया गया है, इसलिए जान पड़ता है कि अपना पैतृक अधिकार छिन जाने से हलंत हड़बड़ा गया है और अब जिसको सामने 'नत्-मस्तक' पाता है उसी पर चढ़ बैठता है।"

घ. सूक्तियाँ

— अपने को पुजवाने की इच्छा रखनेवालों को दुनिया नहीं पूजती।

— लोग कहते हैं कि कमजोर दिल में भगवान का भरोसा रहता है। मगर भगवान का भरोसा यदि हृदय में बस गया तो वह कमजोर कहाँ रहा।

— जो प्रत्यक्ष भाई को प्यार नहीं करता वह अप्रत्यक्ष ईश्वर को कैसे प्यार करेगा?

— संसार में ऊँच-नीच का भेद ठीक नहीं। जिसका दिल-दिमाग ऊँचा हो वही कुलीन है। जो भाव-विचार में क्षुद्र हो वह अधम।

— जिस झूठ से किसी का उपकार हो वह कामचलाऊ सत्य है। जिस झूठ से किसी का अपकार हो वह तो दोहरा पाप है, महापाप है।

— सुंदरता और भयंकरता का अद्भुत संयोग भुजंग में देखा जाता है।

— मनुष्य के मन का भाव तो मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी समझ जाते हैं। भ[illegible]र के ब्रह्म की सर्व-व्यापकता सर्वथा सिद्ध है।

— मन को छोटा करनेवाली बात किसी से मत बोलो। दिल तोड़ने वाली बात बड़ी भयावनी होती है और नागिन की तरह काटकर उलट पड़ती है।

— कुमार्ग में सुख भी मिले तो उसे छोड़ दो। सन्मार्ग में दुःख भी हो तो उसपर दृढ़ रहो, थोड़ी ही दूर आगे सुख मिलेगा।

— मन के भाव को कभी मलिन मत होने दो। जीवन को सुखी बनाने की इच्छा हो तो सब जीवों को सुख पहुँचाओ। मन को परोपकार के रंग में रंगो।

— जब तक द्रव्य की चाह है, तब तक दिल में आह और हृदय में दाह है।

— दुःख की परछाईं का नाम सुख है।

— इत्र की शीशी खाली हो जाने पर भी गमकती है।

— प्रेम का सत्तू तिरस्कार के पुलाव से कहीं अधिक मीठा और तृप्तिकर होता है।

— संसार में स्वार्थ का ही मेला है। वही समझे जिसने झेला है। स्वार्थ तो सर्वनाश का चेला है। स्वार्थी जीवन मिट्टी का ढेला है।

— रामनाम की जाँच-परख करोगे तो पहले ही धक्के में विश्वास हिल जायगा। विश्वास के डिगने पर जो अडिग रह जायगा वहीं अंत में रस का स्वाद चखेगा।

— मनुष्य की मृत्यु से भी उसके जीवन की जाँच-परख होती है।

— रामकृपा की महिमा का साक्षात् प्रमाण मैं स्वयं ही हूँ।

— हे राम ! तुम मेरे हो, क्या मैं भी तुम्हारा हूँ?

संदर्भ सूची

कृतियाँ

* बिहार का विहार : 1919 (1)
* विभूति (कहानी-संग्रह) : 1922 (1)
* देहाती दुनिया (उपन्यास) : 1926 (1)
* ग्राम सुधार : 1947 (2)
* दो घड़ी (व्यंग्य) : 1949 (2)
* अन्नपूर्णा के मंदिर में (ग्रामोपयोगी रचनाएँ) : 1950 (2)

मेरा बचपन : 1960
वे दिन : वे लोग (संस्मरण) : 1965
बिंब : प्रतिबिंब (संस्मरण) · 1967
मेरा जीवन (आत्मकथा) : 1985
स्मृतिशेष (संस्मरण) : 1994
राष्ट्रभाषा और हिन्दी : 1992

बालोपयोगी कृतियाँ

* भीष्म : 1923 (2)
* अर्जुन : 1923 (2)
* माँ के सपूत : 1948 (2)
* संसार के पहलवान : (2)

अमर सेनानी वीर कुँअर सिंह : 1962
अपना देश महान : 1992
खूँटा पंडित : 1992

रचनावली (उपर्युक्त * पुस्तकों एवं अन्य विपुल स्फुट रचनाओं का संकलन)

शिवपूजन रचनावली (1) : 1956
शिवपूजन रचनावली (2) : 1957
शिवपूजन रचनावली (3) : 1957
शिवपूजन रचनावली (4) : 1959

प्रमुख संपादित ग्रंथ

द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ : 1933

राजराजेश्वरी ग्रंथावली : 1937

जयंती स्मारक ग्रंथ : 1942

आत्मकथा (ले. डॉ. राजेंद्र प्रसाद) : 1947

राजेंद्र अभिनंदन ग्रंथ : 1950

राजा कमलानंद सिंह ग्रंथावली (सरोज-रचनावली) : 1957

अयोध्या प्रसाद खत्री स्मारक ग्रंथ : 1960

बिहार की महिलाएं : 1962

हिन्दी साहित्य और बिहार (खंड 1) : 1960

हिन्दी साहित्य और बिहार (खंड 2) : 1963

संपादित पत्र-पत्रिकाएं

मारवाड़ी सुधार : 1921-23

मतवाला : 1923-24

माधुरी : 1924

आदर्श, समन्वय, मौजी, गोलमाल, उपन्यास-तरंग : 1922-26

बालक : 1930

गंगा : 1931

जागरण : 1932

हिमालय : 1946

साहित्य : 1950-62

सहायक ग्रंथ

1. प्रसाद और उनके समकालीन : विनोदशंकर व्यास
2. फाइल प्रोफाइल : उग्र
3. प्रसाद के नाम पत्र : सं. रत्नशंकर प्रसाद
4. निराला की साहित्य साधना खंड 1 और 3 : डॉ. रामविलास शर्मा
5. प्रेमचंद : पत्र-प्रसंग : सं. डॉ. मंगलमूर्त्ति
6. संक्रांति के लेखक शिवपूजन सहाय : डॉ. भृगुनंदन त्रिपाठी (आ. शिवपूजन सहाय जन्मशती व्याख्यान, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)
7. 'देहाती दुनिया' : डॉ. दूधनाथ सिंह (अप्रकाशित निबंध)

8. त्रैमासिक साहित्य : शिवपूजन स्मृति अंक : सं. केसरी कुमार/श्रीरंजन सूरिदेव
9. नई धारा : शिवपूजन स्मृति अंक : सं उदयराज सिंह
10. निधनोपरांत प्रकाशित साप्ताहिक हिन्दुस्तान, त्रिपथगा, परिषद पत्रिका, साहित्य संदेश, ज्योत्स्ना, आज, नवशक्ति, नवराष्ट्र आदि पत्र-पत्रिकाओं के स्मृति-विशेषांक।
11. 'वागीश्वरी' (शती-संस्मृति) : 1994